बुद्ध-वाणी

वियोगी हरि

प्रकाशक
सस्ता साहित्य मण्डल
दिल्ली.

पहली बार २०००
सन १९३५.
मूल्य दस आना

पूज्य मालवीयजी की अपील

"'सस्ता साहित्य मण्डल' ने हिन्दी में उच्चकोटि की सस्ती पुस्तकें निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

मदनमोहन मालवीय

मुद्रक
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
दिल्ली

प्रस्तावना

आचार्य काका कालेलकरने एक जगह लिखा है कि, "बुद्ध-भगवान् की शिक्षा आज के युग के लिए विशेष रीति से अनुकूल है, विशेष रीति से पोषक है।" संसार में आज हर चीज का बड़ी बारीकी से विश्लेषण हो रहा है। विश्लेषण की कसौटी पर जो चीज खरी नहीं उतरती, उसे अपनाने क्या छूनेतक में दुनिया अब आनाकानी करने लगी है। मानवता के मूल में ओतप्रोत धर्म फिर इस व्यापक छानबीन से, इस बौद्धिक क्रांति से अछूता कैसे रह सकता था? संसार के छोटे-बड़े धर्म-मजहबों का भी इधर कुछ वर्षों से स्वतंत्र दृष्टि से विश्लेषणात्मक अध्ययन होने लगा है। और इसीसे काका कालेलकरने वर्तमान शताब्दी को 'धर्म-मन्थन-काल' कहा है। इस धर्म-मन्थन-काल में इलहाम का 'आर्डिनेन्स' मानने को आज मनुष्य की आत्मा तैयार नहीं, यद्यपि

कभी-कभी अंध-अश्रद्धावश आवेश में वह अविवेक का भी प्रदर्शन कर बैठती है। शुद्ध बौद्धिक कसौटी पर कसते समय यह देखा जाता है कि वह धर्म समभाव और समन्वय का कहांतक समर्थक है, वैषम्य और द्वेष की आग को वह उत्तेजन तो नहीं दे रहा है, और सर्वसाधारण का 'कल्याण' उसके द्वारा कहांतक संपादित होता है। किन्तु इस धर्मतुला को मैं एकदम नई कसौटी कहने के पक्ष में नहीं हूँ। धर्म की यह तराजू उतनी ही प्राचीन है, जितनी प्राचीन कि हमारी प्रज्ञा है। कई सदियोंतक हमारे अधर्ममूलक तअस्सुबने इस अनमोल चीज को ओझल जरूर कर रखा था, और कुछ अंशों में आज भी कर रखा है, पर जगत् के क्रांतदर्शी संतों और महापुरुषोंने अपना शोधन-कार्य तो सदा जारी ही रखा। समय-समय पर उन्होंने मनुष्य की बुद्धि पर पड़ा हुआ वह विभेदक पर्दा उठाया और उससे कहा कि—"देख, धर्म का सच्चा सनातनरूप यह है, **एष धर्मः सनातनः**।" भगवान् बुद्धने तो अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि, "आओ, और अपनी '**प्रज्ञा की आँख से**' धर्म को देखो—**एहि पश्यक धर्म**।" यही कारण है कि बुद्ध भगवान् की शिक्षा आज के युग के लिए विशेष रीति से अनुकूल है और विशेष रीति से पोषक है।

जहां अन्य धर्मोंने पात्र में रखी जानेवाली 'वस्तु' के विवेचन में अपने दार्शनिक ज्ञान की सारी पूंजी खर्च कर डाली है, वहां बौद्धधर्म में पात्र की सम्यक् शुद्धि पर ही सब से अधिक जोर दिया गया है, और यही इस मानवधर्म की सबसे बड़ी विशेषता है। और इसीसे आस्तिक और नास्तिक दोनों ही इस कल्याणमूलक धर्म में समान समाधान पाते हैं। कोई विवाद नहीं, कोई

कलह नहीं। अष्टांगिकमार्गी या अन्तःशुद्धि का साधक द्वेषमूलक वाद-विवाद से अलग ही रहेगा। मैत्री, मुदिता और करुणा के शीतल जल में जिस मनुष्यने अपना रोम-रोम भिगो लिया है, वह विवाद, द्वेष और कलह की कभी कल्पना भी नहीं कर सकता। वह किसके साथ तो राग करे और किसके साथ द्वेष?

यह सही है कि रूढ़िप्रिय मनुष्य की अंतड़ियों के घातक फोड़े में बुद्ध भगवान्ने नश्तर लगाया था, और उससे वह एक-बार क्रुद्ध हो चीख उठा था। पर वहां भी भगवान् की असीम करुणा काम कर रही थी। उन्हें तो तृष्णा-शल्याविद्ध मनुष्य के अंतर की पीड़ा हरनी थी, उसका सारा सड़ा मवाद निकालना था, उसका हृदय-घट शुद्ध करना था। रोगी के प्रलाप और अभिशाप से भगवान् डर जाते तो उसे 'ब्रह्मविहार' का आनंद-लाभ कैसे होता? पीछे, जब आंखें खुलीं तो अपने महाकारुणिक चिकित्सक को उसने जगत् का उद्धारक ही नहीं, ईश्वर का अवतार तक माना, और उसकी श्रद्धावनत अंतरात्मा से बरबस ये शब्द निकल पड़े—

बुद्धं शरणं गच्छामि;
धम्मं शरणं गच्छामि;
संघं शरणं गच्छामि।

× × × ×

समय के फेर से बौद्धधर्म आज अपनी जन्मभूमि भारत में प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसका सर्वथा लोप हो गया है। हमारे राष्ट्र पर, हमारे जीवन पर आज भी उस महान् मानवधर्म की अमिट छाप लगी हुई है। भले ही

हम अपनें को प्रत्यक्ष में बौद्ध न कहें, पर बौद्धधर्म का प्रेरणाप्रद प्रभाव हम भारतवासियों के जीवन में परोक्षत: कुछ-न-कुछ काम तो कर ही रहा है। प्रयाग में आज तीसरी नदी का प्रत्यक्ष दर्शन कहां होता है, पर त्रिवेणी के एक-एक कण का महत्व और अस्तित्व उस लुप्तधारा सरस्वती की ही बदौलत बना हुआ है।

पर इस तरह आत्म-संतोष कर लेने से काम नहीं चलेगा। भगवान् बुद्ध का हमारे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है। बौद्ध-वाङ्मय के प्रति हमारी यह भारी उदासीनता सचमुच अक्षम्य है। हमारी राष्ट्रभाषा का बौद्ध-साहित्य के प्रकाशन में तीसरा नंबर आता है। यह हमारे लिए भारी लज्जा और दु:ख का विषय नहीं तो क्या है? बंगभाषा का बौद्ध-साहित्य के प्रकाशन में प्रथम स्थान है। उसके बाद मराठी का नंबर है। मराठी में आचार्य धर्मानन्द कौशांबीने बड़ी योग्यता और विद्वत्तापूर्वक अनेक पाली ग्रन्थों का अत्यंत सुंदर अनुवाद किया है। कौशांबीजी के कुछ बौद्ध ग्रन्थों का गुजराती भाषांतर भी प्रकाशित हो चुका है। हिंदी में तो दो-तीन साल पहले, सिवा चार-पांच बुद्ध-जीवनियों और धम्मपद के तीन-चार अनुवादों के, कुछ था ही नहीं। इधर बेशक इस दिशा में हिंदीने अच्छी प्रगति की है। महापंडित त्रिपिटकाचार्य श्री राहुल सांकृत्यायनने समस्त 'त्रिपिटक' (सुत्तपिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक) का हिंदी-अनुवाद करने का निश्चय किया है। 'मज्झिम निकाय' का अनुवाद तो प्रकाशित भी हो गया है। श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा संकलित 'बुद्धचर्या' भी हिंदी में एक अद्वितीय ग्रन्थ है। श्री सांकृत्यायनजी का संपादित आचार्य वसुबंधु-रचित 'अभिधर्मकोश' भी प्रकाशित हो चुका है। यदि

यही क्रम जारी रहा तो श्री सांकृत्यायनजी के कथनानुसार मूल बौद्ध-साहित्य के अनुवाद में हिंदी का स्थान भारतीय भाषाओं में ही प्रथम नहीं हो जाएगा, बल्कि हमारी मातृभाषा यूरोपीय भाषाओं से टक्कर लेने लगेगी।

अब दो शब्द प्रस्तुत पुस्तक पर। धम्मपद का मैं एक जमाने से भक्त हूँ। इधर श्रीधर्मानन्द कौशांबी और श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुवादित ग्रन्थ देखकर तो मैं 'कुसलस्स उपसंपदा' वाले बुद्ध-शासन पर आशिक हो गया हूँ। 'सुत्तनिपात' तो दो बार पूरा पढ़ा, तो भी तृप्ति नहीं हुई। पुस्तक पढ़ते समय अपने अत्यंत प्रिय स्थलों पर निशान लगाने की मेरी पुरानी आदत है। पढ़ते-पढ़ते मुझे सूझा कि भगवान् बुद्ध की सूक्तियों का लगे हाथों एक छोटा सा विषयवार संग्रह क्यों न कर डाला जाय? मित्रों में चर्चा की तो उन्होंने मुझे प्रोत्साहन दिया। उसी इच्छा और प्रोत्साहन का परिणाम यह 'बुद्धवाणी' नामक सूक्ति-संग्रह है।

आरंभ में आर्यसत्य-चतुष्टय, अष्टांगिक मार्ग, स्मृत्युपस्थान आदि बौद्धधर्म के मूल विषय कदाचित् पाठकों को ऊपर से कुछ नीरस से लगें, पर जरा मनोयोगपूर्वक पढ़ेंगे तो इन दार्शनिक सूक्तियों में उन्हें आत्म-तृप्तिकर आनंद-रस मिले बिना न रहेगा। अंत में 'सूक्तिकण' नामक एक खंड है, जिसमें विविध विषयों की सूक्तियों का संग्रह किया गया है। पाठकों से मेरा आग्रह है कि सूक्ति-कण को वे अवश्य आद्योपान्त पढ़ें।

कौन सूक्ति किस ग्रन्थ से ली गई है इसका निर्देश मैंने प्रत्येक सूक्ति-संग्रह-विभाग के अंत में कर दिया है। पुस्तक के अंत में

बौद्ध-साहित्य में प्रयुक्त खास-खास पारिभाषिक शब्दों का एक संक्षिप्त कोश भी दे दिया है।

'बुद्ध-वाणी' ने लोगों के हृदय में यदि बौद्ध-वाङ्मय के निर्मल सरोवर में अवगाहन करने की जरा भी लालसा जगाई तो मैं अपना यह तुच्छ प्रयास सफल समझूंगा।

दिल्ली,
श्रावण, सं० १९९२ } वियोगी हरि

ग्रन्थ-संकेत-निर्देश

म. नि.	=	मज्झिम निकाय (राहुल सांकृत्यायन)
दी. नि.	=	दीघ निकाय
अं. नि.	=	अंगुत्तर निकाय
सं. नि.	=	संयुत्त निकाय
ध. प.	=	धम्मपद
सु. नि.	=	सुत्त निपात (धर्मानन्द कौशांबी-गुजराती संस्करण)
बु. च.	=	बुद्धचर्या (राहुल सांकृत्यायन)
बु. ली.	=	बुद्धलीला (धर्मानन्द कौशांबी-गुजराती संस्करण)
बु. दे.	=	बुद्धदेव (जगन्मोहन वर्मा)

विषय-निर्देश

बुद्ध-वाणी

बुद्ध-वाणी



भगवान बुद्ध

नमो तस्स भगवतो
अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

卐

बुद्धं सरणं गच्छामि
धम्मं सरणं गच्छामि
संघं सरणं गच्छामि

बुद्ध-वाणी

बुद्ध-शासन

१. सारे पापों का न करना, 'कुशल धर्मों,' अर्थात् पुण्यों का संचय करना, और अपना चित्त परिशुद्ध रखना—यही बुद्धों की शिक्षा है।

*

१. सब्ब पापस्स अकरणं

कुसलस्स उपसंपदा;

सचित्त परियोदपनं

एतं बुद्धान सासनं।

२. बुद्धों की यह शिक्षा है :—

(१) निंदा न करना;

(२) हिंसा न करना;

(३) आचार-नियम-द्वारा अपने को संयत रखना;

(४) मित भोजन करना;

(५) एकांत में वास करना;

(६) चित्त को योग में लगाना।

२. अनुपवादो अनुपघातो,
पातिमोक्खे च संवरो;
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं
पंतञ्च सयनासनं।
अधिचित्ते च आयोगो
एतं बुद्धान सासनं।

१—२. ध. प. (बुद्धवग्गो)

महामंगल

१. मूर्खों के सहवास से दूर रहना, सत्पण्डितों का सत्संग करना, और पूज्यजनों को पूजना ही उत्तम मंगल है।

२. अनुकूल प्रदेश का वास, पुण्यों का संचय और सन्मार्ग में मन की दृढ़ता—यही उत्तम मंगल है।

३. विद्या और कला का संपादन, सद्व्यवहार का अभ्यास तथा समयोचित भाषण—यही उत्तम मंगल है।

४. माता-पिता की सेवा, स्त्री-पुत्रादि की सँभाल और व्यवस्थित रीति से किये हुए कर्म—यही उत्तम मंगल है।

५. आदर, नम्रता, संतुष्टि, कृतज्ञता और बारबार सद्धर्म का सुनना—यही उत्तम मंगल है।

६. क्षमा, मधुर भाषण, संतों का सत्संग और बारबार धर्मचर्चा—यही उत्तम मंगल है।

७. तप, ब्रह्मचर्य, आर्यसत्यों* का ज्ञान तथा निर्वाणपद का साक्षात्कार—यही उत्तम मंगल है।

*दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध का मार्ग, इन चार सत्यों को भगवान् बुद्धने 'आर्यसत्य-चतुष्टय' कहा है।

१—७. सु. नि. (महामंगल सुत्त).

आर्यसत्य-चतुष्टय

१. पहला आर्यसत्य **दुःख** है। जन्म दुःख है, जरा दुःख है, व्याधि दुःख है, मृत्यु दुःख है; अप्रिय का मिलना दुःख है, प्रिय का बिछुड़ना दुःख है, जिसे चाहें वह न मिले तो वह भी दुःख है। संक्षेप में, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान यह पंचोपादान स्कंध (समुदाय) ही दुःख है।

२. **दुःखसमुदय** नाम का दूसरा आर्यसत्य यह तृष्णा है, जो पुनर्भवादि दुःख का मूल कारण है। यह तृष्णा राग के साथ उत्पन्न हुई है। सांसारिक उपभोगों की तृष्णा, स्वर्गलोक में जाने की तृष्णा, और आत्महत्या करके संसार से लुप्त हो जानें की तृष्णा इन तीन तृष्णाओं से मनुष्य अनेक तरह का पापाचरण करता है और दुःख भोगता है।

३. तीसरा आर्यसत्य **दुःखनिरोध** है। यह प्रतिसर्गमुक्त और अनालय है। तृणा का निरोध करने से निर्वाण की प्राप्ति होती है, देहदंड या कामोपभोग से मोक्षलाभ होनें का नहीं।

४. चौथा आर्यसत्य **दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा** है। इसी आर्यसत्य को **अष्टांगिक मार्ग** कहते हैं। वे अष्टांग ये हैं :—

(१) सम्यक् दृष्टि,

(२) सम्यक् संकल्प,

(३) सम्यक् वचन,

(४) सम्यक् कर्मान्त,

(५) सम्यक् आजीव,

(६) सम्यक् व्यायाम,

(७) सम्यक् स्मृति,

(८) सम्यक् समाधि ।

दु:ख का निरोध इसी मार्ग पर चलने से होता है ।

५. **दु:ख** नामक पहला आर्यसत्य पूर्व धर्मों में नहीं सुना गया था । यह दु:ख नामक आर्यसत्य **परिज्ञेय** है ।

६. **दु:खसमुदय** नाम का दूसरा आर्यसत्य पूर्व धर्मों में कभी नहीं सुना गया था । यह दु:खसमुदय नाम का आर्यसत्य **त्याज्य** है ।

७. **दु:खनिरोध** नाम का तीसरा आर्यसत्य पहले के धर्मों में नहीं सुना गया था । यह दु:खनिरोध नाम का आर्यसत्य **साक्षात्करणीय कर्तव्य** है ।

८. **दु:ख-निरोधगामिनी प्रतिपदा** नाम का चौथा आर्यसत्य पूर्व धर्मों में नहीं सुना गया था । यह दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपदा नामक आर्यसत्य **भावना करनेयोग्य** है ।

९. इस 'आर्यसत्य-चतुष्टय' से मेरे अंतर में चक्षु, ज्ञान, प्रज्ञा, विद्या और आलोक की उत्पत्ति हुई ।

१०. जब से मुझे इन चारों आर्यसत्यों का यथार्थ सुविशुद्ध ज्ञानदर्शन हुआ, तब से मैंने देवलोक में, मारलोक में, श्रमण-जगत् और ब्राह्मणीय प्रजा में, देवों और मनुष्यों में यह प्रगट किया कि मुझे अनुत्तर सम्यक् संबोधि* प्राप्त हुई और मैं **अभिसंबुद्ध**

* परमज्ञान, मोक्षज्ञान

हुआ, मेरा चित्त निर्विकार और विमुक्त हो गया। और यह अब मेरा अंतिम जन्म है।

११. परिव्राजक को इन दो अंतों (अतिसीमा) का सेवन नहीं करना चाहिए। वे दोनों अंत कौन हैं? पहला अंत है काम-वासनाओं में कामसुख के लिए लिप्त होना। यह अंत अत्यंत हीन, ग्राम्य, अध्यात्ममार्ग से हटा देनेवाला, अनार्य्य और अनर्थकारी है। दूसरा अंत है शरीर को दंड देकर दुःख उठाना। यह भी अनार्यसेवित और अनर्थयुक्त है। इन दोनों अंतों को त्यागकर **मध्यमा प्रतिपदा** (अष्टांगिक मार्ग) का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। यह मध्यमा प्रतिपदा चक्षुदायिनी और ज्ञानप्रदायिनी है। इससे उपशम, अभिज्ञान, संबोधन और निर्वाण प्राप्त होता है।

१—११. बु. च. (धर्मचक्रप्रवर्तन सूत्र).

अष्टांगिक मार्ग

१. सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि, यह आर्य अष्टांगिक मार्ग है।

२. **सम्यक् दृष्टि**, दुःख का ज्ञान, दुःखोदय का ज्ञान, दुःख-निरोध का ज्ञान और दुःखनिरोध की ओर ले जानेवाले मार्ग का ज्ञान, इस आर्यसत्य-चतुष्टय के सम्यक् ज्ञान को सम्यक् दृष्टि कहते हैं।

३. **सम्यक् संकल्प**, निष्कर्मता-संबंधी, अर्थात् अनासक्ति संबंधी संकल्प, अहिंसासंबंधी संकल्प, और अद्रोहसंबंधी संकल्प को सम्यक् संकल्प कहते हैं।

४. **सम्यक् वचन**, असत्य वचन छोड़ना, पिशुन वचन अर्थात् चुगलखोरी छोड़ना, कठोर वचन छोड़ना और बकवाद छोड़ना सम्यक् वचन है।

५. **सम्यक् कर्मान्त** प्राणिहिंसा से विरत होना, बिना दी हुई वस्तु न लेना और कामोपभोग के मिथ्याचार (दुराचार) से विरत होना ही सम्यक् कर्मान्त है।

६. **सम्यक् आजीव**, आजीविका के मिथ्या साधनों को छोड़कर अच्छी सच्ची आजीविका से जीवन व्यतीत करना सम्यक् आजीव है।

७. **सम्यक् व्यायाम**, 'अकुशल' धर्म, अर्थात् पाप उत्पन्न न होने देने के लिए निश्चय करना, परिश्रम करना, उद्योग करना,

चित्त को पकड़ना और रोकना तथा कुशल धर्म, अर्थात् सत्कर्म की उत्पत्ति, स्थिति, विपुलता और परिपूर्णता के लिए निश्चय, उद्योग आदि करना ही सम्यक् व्यायाम है।

८. **सम्यक् स्मृति**, अशुचि, जरा, मृत्यु आदि दैहिक धर्मों का अनुभव करना तथा उद्योगशील अनुभवज्ञानयुक्त हो लोभ और मानसिक संताप को छोड़कर जगत् में विचरना ही सम्यक् स्मृति है।

९. **सम्यक् समाधि**, कुशल धर्मों अर्थात् सन्मनोवृत्तियों में समाधान रखना ही सम्यक् समाधि है।

१०. इस सम्यक् समाधि की प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यानरूपी चार पगडंडियां हैं।

पहले ध्यान में, वितर्क, विचार, प्रीति (प्रमोद) सुख और एकाग्रता का प्राधान्य होता है।

दूसरे ध्यान में, वितर्क और विचार का लोप हो जाता है; प्रीति, सुख और एकाग्रता इन तीन मनोवृत्तियों का ही प्राधान्य रहता है।

तीसरे ध्यान में, प्रीति का लय हो जाता है; केवल सुख और एकाग्रता की ही प्रधानता रहती है।

चौथे ध्यान में, सुख भी लुप्त हो जाता है; उपेक्षा और एकाग्रता का ही प्राधान्य रहता है।

*

११. अमृत की ओर ले जानेवाले मार्गों में अष्टांगिक मार्ग परम **मंगलमय मार्ग** है।

*

१२. दु:ख आर्यसत्य, दु:ख-समुदय आर्यसत्य, दु:खनिरोध आर्यसत्य और दु:खनिरोधगामिमार्ग आर्यसत्य, इन चार आर्यसत्यों का ज्ञान न होने से युगानुयुगोंतक हम सब लोग संसृति के पाश में बँधे पड़े थे। किन्तु अब इन आर्यसत्यों का बोध होने से हमने दु:ख की जड़ खोद निकाली है, और हमारा पुनर्जन्म से छुटकारा हो गया है।

१.—१०. दी.नि. (महासतिपट्ठान सुत्त) ११. म. नि. (मागंदिय सुत्तन्त) ११. दी. नि (महापरिनिब्बाण सुत्त)

जागृति के चार साधन

(चार स्मृत्युपस्थान)

१. शुद्ध होनें के लिए, शोक और दुःख से तरने के लिए, दौर्मनस्य (मानसिक दुःख) का नाश करने के लिए, सन्मार्ग प्राप्त करनें के लिए और निर्वाणपद का अनुभव लेने के लिए चार स्मृति-उपस्थानों का मार्ग ही एकमात्र सच्चा मार्ग है।

२. चार स्मृति-उपस्थान ये हैं :—

(१) अपनी देह का यथार्थ रीति से अवलोकन करना;

(२) वेदना* का यथार्थ रीति से अवलोकन करना;

(३) चित्त का यथार्थ रीति से अवलोकन करना;

(४) मनोवृत्तियों का यथार्थ रीति से अवलोकन करना।

ये चार स्मृति-उपस्थान अर्थात् जागृति के श्रेष्ठ साधन हैं।

३. अरण्य में वृक्ष के नीचे अथवा एकान्त में पालथी मारकर गर्दन से कमरतक शरीर सीधा रखकर जो भिक्षु जागृत अन्तःकरण से श्वास खींचता है और प्रश्वास बाहर निकालता है, उसका आश्वास और प्रश्वास दीर्घ है या ह्रस्व इसकी जिसे पूर्ण स्मृति होती है, जागृतिपूर्वक जो अपने प्रत्येक आश्वास-प्रश्वास का अभ्यास करता है, वह अपने आश्वास-प्रश्वास को भली भांति जानता है।

*इन्द्रिय और विषय के एकसाथ मिलने के बाद जो दुःख-सुख आदि विकार उत्पन्न होता है।

जिस प्रकार वह आश्वास और प्रश्वास को सम्यक् रीति से जानता है, उसी प्रकार वह अपनी देह का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

४. जाते समय वह यह स्मरण रखता है कि 'मैं जा रहा हूँ'; खड़ा होता है तो 'मैं खड़ा हूँ' यह स्मरण रखता है; जब बैठा होता है तब यह स्मरण रखता है कि 'मैं बैठा हूँ'; बिस्तरे पर पड़ा होता है तो 'मैं बिस्तरे पर पड़ा हुआ हूँ,' यह स्मरण रखता है। उसे देह की समस्त क्रियाओं का ज्ञान होता है।

इस तरह वह अपनी देह का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

५. वह अपनी देह का नख से शिखतक अवलोकन करता है। केश, रोम, नख, दन्त, त्वचा, मांस,स्नायु,अस्थि, मज्जा, मूत्राशय, कलेजा, यकृत, तिल्ली, फेफड़े, आंत,अंतड़ियां, विष्ठा, पित्त, कफ, पीब, रक्त, पसीना, मेद, आंसू, चरबी, थूंक, लार और मूत्र ऐसी-ऐसी अपवित्र चीजें इस देह में भरी हुई हैं!

कायानुपश्यी योगी अपनी देह में भरे हुए इन तमाम अपवित्र पदार्थों का उसी प्रकार एक-एक करके अवलोकन करता है, जिस प्रकार कि हम विविध अनाजों की पोटली को खोलकर देख सकते हैं, कि इसमें यह चावल है, यह मूंग है, यह उड़द है, यह तिल है और यह धान है।

६. वह कायानुपश्यी भिक्षु मरघट में जाकर अनेक तरह के मुर्दों को देखता है। कोई मुर्दा सूजकर मोटा हो गया है, किसी मुर्दे को कौओं, कुत्तों, और सियारोंने खाकर और नोच-नाचकर छिन्न-भिन्न कर डाला है, तो किसी की केवल शंख-सी सफेद हड्डियां

हो पड़ी हुई हैं। ऐसे भयावने मुर्दों की तरफ देखकर वह यह विचार करता है कि 'मेरी देह की भी एक दिन यही गति होनी है। यह हो नहीं सकता, कि मेरी देह इस नश्वर स्थिति से मुक्त हो जाय।'

वह यह स्मरण रखता है कि यह देह जब पैदा हुई है तब एक-न-एक दिन तो इसका नाश होगा ही। देह नाशवान् है इसका उसे हमेशा स्मरण रहता है।

वह अनासक्त हो जाता है। दुनिया में किसी भी वस्तु की उसे आसक्ति नहीं रहती।

इस प्रकार वह अपनी देह का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

७. कोई भिक्षु अपनी वेदनाओं का यथार्थरीति से अवलोकन करता है। जब वह सुखकारी वेदना का अनुभव करता है, तो वह समझता है कि मैं सुखद वेदना का अनुभव कर रहा हूँ।

और जब दुःखकारी वेदना का अनुभव करता है, तब वह समझता है कि मैं दुःखद वेदना का अनुभव कर रहा हूँ।

जब वह सुख-दुःखरहित वेदना का अनुभव करता है, तब वह समझता है कि मैं सुख-दुःखरहित वेदना का अनुभव कर रहा हूँ।

उसे इस बात का स्मरण रहता है कि वह इस वेदना का लोभ से अनुभव कर रहा है या अलोभ से।

इस प्रकार वह आन्तरिक और बाह्य वेदना का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है। वह देखता है कि वेदना जब पैदा हुई है तब नाश उसका अवश्य होगा।

उसे यह स्मरण रहता है कि उसके अंग में वेदना है।

स्मृति और ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह वेदनानुपश्यी योगी अनासक्त हो जाता है। इस लोक की किसी भी वस्तु में वह आसक्ति नहीं रखता।

८. कोई भिक्षु अपने चित्त का यथार्थरीति से अवलोकन करता है। मेरा चित्त सकाम है या निष्काम, सद्वेष है या विगत-द्वेष, समोह है या वीतमोह, संक्षिप्त है या विक्षिप्त, समाहित (एकाग्र) है या असमाहित, विमुक्त है या अविमुक्त, आदि सभी अवस्थाओं को वह जानता है। इस प्रकार उसे अपने और पराये चित्त का परिज्ञान हो जाता है।

वह जानता है कि चित्त का स्वभाव चंचल है। चित्त ऐसा क्यों है, इसकी उसे स्मृति होती है।

केवल स्मृति और ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह किसी भी वस्तु में आसक्ति नहीं रखता। इस प्रकार वह चित्तानुपश्यी भिक्षु चित्त का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

९. कोई भिक्षु अपनी मनोवृत्तियों का यथार्थरीति से अवलोकन करता है। वह इस बात की ठीक-ठीक शोध करता है कि उसके अंतःकरण में कामविकार, द्वेषवृद्धि, आलस्य, अस्वस्थता और संशय, ये ज्ञान के पांच आवरण हैं या नहीं।

इन आवरणों की उत्पत्ति कैसे होती है, इनके उत्पन्न होने पर इनका विनाश किस तरह किया जाता है, और इनके फिर से उत्पन्न न होनें का क्या उपाय है, इस सब को वह जानता है।

इस प्रकार इन पांच मनोवृत्तियों का वह यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

१०. फिर वह पांच स्कन्धों का यथार्थरीति से अवलोकन

करता है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धों का उदय और अस्त कैसे होता है यह वह जानता है।

इस प्रकार वह धर्मानुपश्यी भिक्षु आभ्यंतर और बाह्य स्कन्धों का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

११. फिर वह चक्षु, रूप इत्यादि आध्यात्मिक और बाह्य आयतनों का यथार्थरीति से अवलोकन करता है। चक्षु और रूप, कर्ण और शब्द, नासा और गंध, त्वचा और स्पर्श, मन और मनोवृत्ति इनके संयोग से कौन-कौन-से संयोजन पैदा होते हैं, और उनके उत्पन्न होने पर उन संयोजनों का नाश कैसे होता है, और संयोजन फिर उत्पन्न न हों इसका क्या उपाय है इस सबको वह जानता है।

१२. फिर वह सात बोध्यंगों का यथार्थरीति से अवलोकन करता है। स्मृति, धर्मप्रविचय (धर्मसंचय) वीर्य (उद्योग) प्रीति, प्रश्रब्धि (शांति), समाधि और उपेक्षा ये सात धर्म मेरे अंतःकरण में हैं या नहीं यह वह जानता है। यदि नहीं हैं तो ये संबोध्यंग किस प्रकार उत्पन्न किये जा सकते हैं, और उत्पन्न हुए संबोध्यंगों को भावना के द्वारा किस प्रकार पराकाष्ठातक पहुँचाया जा सकता है, यह सब वह जानता है।

इस प्रकार वह भिक्षु आध्यात्मिक और बाह्य मनोवृत्तियों का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

१३. इसके अतिरिक्त वह भिक्षु चार आर्यसत्यों का यथार्थ रीति से अवलोकन करता है।

यह दुःख है, यह दुःख का समुदय है, यह दुःख का निरोध है और यह दुःख-निरोध का मार्ग है, यह वह यथार्थरीति से जानता है।

इस प्रकार वह भिक्षु आध्यात्मिक और बाह्य मनोवृत्तियों का यथार्थरीति से अवलोकन करता है।

१४. इन चार स्मृति-उपस्थानों की ऊपर कहे अनुसार सात वर्षतक भावना करने से भिक्षु को 'अर्हत्पद' की प्राप्ति हो जायगी। अधिक नहीं तो, वह 'अनागामी' तो हो ही जायगा, उसे फिर इस लोक में जन्म नहीं लेना पड़ेगा।

१५. सात वर्ष जाने दो, ऊपर कहे अनुसार जो भिक्षु इन चार स्मृति-उपस्थानों की भावना छै वर्ष, पांच वर्ष, चार वर्ष, तीन वर्ष, दो वर्ष, एक वर्ष, इतना भी तो नहीं, तो सात मास, छै मास, पांच मास, चार मास, तीन मास, दो मास, एक मास या सात ही दिन यथार्थरीति से करेगा, तो उसे 'अर्हत्पद' की प्राप्ति हो जायगी—और नहीं तो वह अनागामी तो हो ही जायगा।

१६. इन चार स्मृति-उपस्थानों का मार्ग शोक और कष्ट की विशुद्धि के लिए, दुःख और दौर्मनस्य के अतिक्रमण के लिए, सत्य की प्राप्ति के लिए और निर्वाण के साक्षात्कार के लिए **एकायन मार्ग** (निश्चित मार्ग) है।

१—१६. म. नि. (सतिपट्ठान सुत्तन्त)

सप्त धर्मरत्न

१. धर्म के इन सात रत्नों को तुम लोग अवश्य धारण करो—(१) स्मृत्युपस्थान, (२) सम्यक् प्रधान (प्रयत्न) (३) ऋद्धिपाद, (४) इन्द्रिय, (५) बल, (६) बोध्यंग, और (७) मार्ग।

२. **स्मृत्युपस्थान** चार प्रकार का है—(१) शरीर अपवित्र है, (२) संसार की सभी वेदनाएँ दुःखरूप हैं, (३) चित्त अनित्य है, और (४) संसार के समस्त पदार्थ अलीक अर्थात् क्षणिक हैं। इन चारों के स्मरण और भावना को चतुर्विध स्मृत्युपस्थान कहते हैं।

३. **सम्यक् प्रधान** चार प्रकार का है—(१) अर्जित पुण्य का संरक्षण, (२) अलब्ध पुण्य का उपार्जन, (३) पूर्व संचित पाप का परित्याग, और (४) नूतन पापों की अनुत्पत्ति का प्रयत्न।

४. **ऋद्धिपाद** अर्थात् असाधारण क्षमता की प्राप्ति के लिए (१) दृढ़ संकल्प, (२) चिंता अर्थात् उद्योग, (३) उत्साह और (४) आत्मसंयम करना।

५. इन्द्रियां पांच प्रकार की हैं—(१) श्रद्धा, (२) समाधि, (३) वीर्य, (४) स्मृति, और (५) प्रज्ञा।

६. **बल** भी पांच प्रकार का है—(१) श्रद्धाबल, (२) समाधिबल, (३) वीर्यबल, (४) स्मृतिबल, और (५) प्रज्ञाबल।

७. बोध्यंग सात प्रकार का है—(१) स्मृति, (२) धर्म-प्रविचय (धर्मान्वेषण) या पुण्य, (३) वीर्य, (४) प्रीति, (५) प्रश्रब्धि अर्थात् शांति, (६) समाधि, और (७) उपेक्षा।

८. मार्ग आठ प्रकार का है—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति, और (८) सम्यक् समाधि।

९. इन सैंतीस पदार्थों को लेकर मैंने धर्म की व्यवस्था की है। इन्हें मैंने 'सप्तत्रिंशत् शिक्षमाण धर्म' कहा है।

भिक्षुओ ! तुम्हारा यह कर्तव्य है कि इस धर्म का श्रवण, मनन और निदिध्यासपूर्वक जगत् में प्रचार करो।

१—९. दी. नि. । महापरिनिब्बाण सुत्त)

ब्रह्म-विहार

१. मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—इन चार मनोवृत्तियों को 'ब्रह्मविहार' कहते हैं।

२. मैत्रीपूर्ण चित्त से, करुणापूर्ण चित्त से, मुदितापूर्ण चित्त से और उपेक्षापूर्ण चित्त से जो भिक्षु चारों दिशाओं को व्याप्त कर देता है; सर्वत्र सर्वात्मरूप होकर समस्त जगत् को अवैर और अद्वेषमय चित्त से भर देता है उसे मैं 'ब्रह्मप्राप्त' भिक्षु कहता हूँ।

*

३. मैत्रीचित्तविमुक्ति की प्रेमपूर्वक इच्छा करनें से, भावना करने से, अभिवृद्धि करने से, स्थापना करने से, उसका अनुष्ठान करने से और उसे उत्साहपूर्वक अंगीकर करने से मनुष्य को ये ग्यारह लाभ होते हैं :—

वह सुखपूर्वक सोता है; सुख से जागता है; बुरे स्वप्न नहीं देखता; सब का प्रिय होता है; भूत-पिशाचों का भय नहीं रहता; देवता उसकी रक्षा करते हैं; अग्नि, विष या हथयार उस पर कोई असर नहीं कर सकते; चित्त का तुरंत समाधान हो जाता है; मुख की कान्ति अच्छी रहती है; शांति से मरता है; और, निर्वाण न भी मिले, तो भी मृत्यु के पश्चात् ब्रह्मलोक को तो जाता ही है।

*

४. विचारपूर्वक किये हुए कर्मों का फल बिना भोगे नष्ट नहीं होता। इस लोक में अथवा परलोक में कृतकर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। फिर इन कर्मों को जाने बिना दुःख नष्ट नहीं होता। अतः आर्यश्रावक (गृहस्थ) लोभ से, द्वेष से और मोह से विमुक्त होकर सचेत अंतःकरण के द्वारा मैत्रीयुक्त चित्त से, करुणायुक्त चित्त से, मुदितायुक्त चित्त से और उपेक्षायुक्त चित्त से चारों दिशाओं को अभिव्याप्त कर देता है; अखिल जगत् को अवैर और द्वेषरहित मैत्रीसहगत चित्त से अभिव्याप्त कर देता है।

वह समझता है कि पूर्व में इन भावनाओं के न करनें से मेरा चित्त संकुचित था। पर अब उत्तम रीति से इस मैत्री भावना, इस करुणा भावना, इस मुदिता भावना और इस उपेक्षा भावना के करने से वह असीम और अनंत हो गया है। जो भी मर्यादित कर्म मेरे हाथ से हुआ होगा, वह अब इन अमर्यादित भावनाओं के कारण शेष नहीं रह सकता, वह इन भावनाओं के सामने टिक नहीं सकता।

५. मनुष्य यदि छुटपन से ही मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाचित्तविमुक्ति की भावना करे, तो उसके हाथ से पाप-कर्म होगा ही क्यों? और वह पाप नहीं करेगा, तो फिर उसे दुःख क्यों भागना पड़ेगा?

६. यह मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाचितविमुक्ति की भावना क्या पुरुष क्या स्त्री सभी को करनी चाहिए।

१—२ अं. नि. (चतुक्कनिपात) ३ अं. नि. (मेत्तसुत्त) ४—६. अं. नि. (दसक निपात)

सत्य

१. असत्यवादी नरकगामी होते हैं, और वे भी नरक में जाते हैं, जो करके 'नहीं किया' कहते हैं ।

२. जो मिथ्याभाषी है, वह मुंडित होने मात्र से श्रमण नहीं हो जाता ।

*

३. जिसे जान-बूझकर झूठ बोलने में लज्जा नहीं, उसका साधुपना औंधे घड़े के समान है; साधुता की एक बूंद भी उसके हृदय-घट के अंदर नहीं ।

४. जिसे जान-बूझकर झूठ बोलनें में लज्जा नहीं,उससे कौन-सा पाप-कर्म करने को बचा ? इसलिए तू यह हृदय में अंकित कर ले, कि मैं हँसी-मजाक में भी कभी असत्य नहीं बोलूंगा ।

*

५. जितनी हानि शत्रु शत्रु की, और वैरी वैरी की करता है मिथ्या मार्ग का अनुगमन करनेवाला चित्त उससे कहीं अधिक हानि पहुँचाता है ।

*

६. सभा में, परिषद् में अथवा एकांत में किसी से झूठ न बोले; झूठ बोलने के लिए दूसरों को प्रेरित न करे, न झूठ बोलने-वाले को प्रोत्साहन दे—इसलिए असत्य का सर्वांश में परित्याग कर देना चाहिए ।

*

७. अगर कोई हमारे विरुद्ध झूठी गवाही देता है, तो उससे हमें अपना भारी नुकसान हुआ मालूम होता है। इसी तरह अगर असत्य भाषण से मैं दूसरों की हानि करूं, तो क्या वह उसे अच्छा लगेगा ? ऐसा विचार करके मनुष्य को असत्यभाषण का परित्याग कर देना चाहिए, और दूसरों को भी सत्य बोलने का उपदेश करना चाहिए। उसे तो सदा ईमानदारी की ही सराहना करनी चाहिए।

*

८. असत्य का कदापि आश्रय न ले। न्यायाधीशने गवाही देने के लिए बुलाया हो तो वहां भी जो देखा है उसी को कहे, कि मैंने देखा है; और जो बात नहीं देखी, उसे 'नहीं देखी' ही कहे।

*

९. सत्यवाणी ही अमृतवाणी है; सत्यवाणी ही सनातनधर्म है। सत्य, सदर्थ और सद्धर्म पर संतजन सदैव दृढ़ रहते हैं।

१०. सत्य एक ही है, दूसरा नहीं। सत्य के लिए बुद्धिमान् लोग विवाद नहीं करते।

११. ये लोग भी कैसे हैं ! सांप्रदायिक मतों में पड़कर अनेक तरह की दलीलें पेश करते हैं, और सत्य और असत्य दोनों का ही प्रतिपादन कर देते हैं ! अरे, सत्य तो जगत् में एक ही है, अनेक नहीं।

१२. जो मुनि है, वह केवल सत्य को ही पकड़कर और दूसरी तमाम वस्तुओं को छोड़कर संसार-समुद्र के तीर पर आ जाता है। उसी सत्यनिष्ठ मुनि को हम शांत कहते हैं।

१—२. ध. प. (निरय वग्गो) ३–४ सु. च. (राहुलोवाद सुत्त) ५. ध. प. (चित्त वग्गो) ६. सु. नि. (धम्मिक सुत्त) ७. बु, ली. सं. (पृष्ठ २५५) ८. म. नि. (सालेय्यक सुत्त) ९. सु. नि. (सुभासित सुत्त) १०-११. सु. नि. (चूलवियूह सुत्त). १२. सु. नि. (अत्तदंड सुत्त)

अहिंसा

१. 'जैसा मैं हूं वैसे ही वे हैं और जैसे वे हैं वैसा ही मैं हूं' इस प्रकार अपने उदाहरण से (सर्वात्मैक्य) समझकर न किसी को मारे, न मारने को प्रेरित करे।

*

२. जहां मन हिंसा से मुड़ता है, वहां दुःख अवश्य ही शान्त हो जाता है।

*

३. अपनी प्राण-रक्षा के लिए भी जान-बूझकर किसी प्राणी का वध न करे।

*

४. मनुष्य यह विचार किया करता है कि मुझे जीने की इच्छा है, मरने की नहीं; सुख की इच्छा है, दुःख की नहीं। यदि मैं मेरी ही तरह सुख की इच्छा करनेवाले प्राणी को मार डालूं तो क्या यह बात उसे अच्छी लगेगी? इसलिए मनुष्य को प्राणिघात से तो विरत ही हो जाना चाहिए, और उसे दूसरों को भी हिंसा से विरत कराने का प्रयत्न करना चाहिए।

*

५. वैरियों के प्रति वैररहित होकर, अहा! हम कैसा आनन्दमय जीवन बिता रहे हैं, वैरी मनुष्यों के बीच अवैरी होकर विहार कर रहे हैं!

*

६. पहले तीन ही रोग थे—इच्छा, क्षुधा और बुढ़ापा। पशु की हिंसा से बढ़ते-बढ़ते वे अठ्ठानवे हो गये!

ये याजक, ये पुरोहित निर्दोष पशुओं का वध कराते हैं, धर्म का ध्वंस करते हैं। यज्ञ के नाम पर की गई यह पशु-हिंसा निश्चय ही निन्दित और नीच कर्म है। प्राचीन पंडितोंने ऐसे याजकों की निन्दा ही की है।

*

७. पहले के ब्राह्मण यज्ञ में गाय का हनन नहीं करते थे। जैसे माता, पिता, भ्राता और दूसरे बन्धु-बान्धव हैं, वैसे ही ये गायें हमारी परम मित्र हैं। ये अन्न, बल, वर्ण और सुख देनेवाली हैं।

८. किन्तु मानुष भोगों को देखकर कालान्तर में ये ब्राह्मण भी लोभग्रस्त हो गये, उनकी भी नीयत बदल गई। मंत्रों को रच-रचकर वे इक्ष्वाकु (ओक्काक) राजा के पास पहुँचे, और उसके धनैश्वर्य की प्रशंसा करके उसे पशु-यज्ञ करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने उससे कहा, 'जैसे पानी, पृथिवी, धन और धान्य प्राणियों के उपभोग की वस्तुएँ हैं, उसी प्रकार ये गायें भी मनुष्यों के लिए उपभोग्य हैं। अतः तू यज्ञ कर।

९. तब उन ब्राह्मणों से प्रेरित होकर रथर्षभ राजाने लाखों निरपराध गायों का यज्ञ में हनन किया। जो बेचारी न पैर से मारती हैं, न सींग से, जो भेड़ की नाईं सीधी और प्यारी हैं, और जो घड़ाभर दूध देती हैं, उनके सींग पकड़कर राजाने शस्त्र से उनका वध किया।

१०. यह देखकर देव, पितर, इन्द्र, असुर और राक्षस चिल्ला उठे, 'अधर्म हुआ, अधर्म हुआ, जो गाय के ऊपर शस्त्र गिरा!'

---

१. सु. नि. (नालक सुत्त) २. ध. प. (ब्राह्मण वग्गो) ३. बु. च. (सोह सुत्त) ४. बु. ली. सं. (पृष्ठ २५५) ५. ध. प. (सुख वग्गो) ६—१०. बु. च. (ब्राह्मण धम्मिक सुत्त)

अमृत की खेती

१. मैं भी कृषक हूँ। मेरे पास श्रद्धा का बीज है। उस पर तपश्चर्या की वृष्टि होती है।

प्रज्ञा मेरा हल है। ह्री (पाप करने में लज्जा) की हरिस, मन की जोत और स्मृति की फाल से मै अपना खेत (जीवन-क्षेत्र) जोतता हूँ।

सत्य ही मेरा खुरपा है। मेरा उत्साह ही मेरा बैल है और यह योगक्षेम मेरा अधिवाहन है। इस हल को मैं नित्य निरंतर निर्वाण की दिशा में चलाया करता हूँ।

२. मैं यही कृषि करता हूँ। इस कृषि से कृषक को अमृत-फल मिलता है, और वह समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

१—२. सु. नि. (कसिभारद्वाज सुत्त)

मैत्री-भावना

१. शांतपद के जिज्ञासु एवं आत्महित कुशल मनुष्य का कर्तव्य यह है कि उसे सहनशील, सरलातिसरल, मधुरभाषी, मृदु और निरहंकारी बनना चाहिए।

२. हमें कोई ऐसा क्षुद्र आचरण नहीं करना चाहिए, जिससे कि सुज्ञ जन हमें दोष दें। हमें सदा यही भावना करनी चाहिए कि जगत् के समस्त प्राणी सुखी, सक्षेम और सानंद रहें।

३. चर हों या स्थावर, बड़े हों या छोटे, दृष्ट हों या अदृष्ट, हम से दूर रहते हो या पास, जगत् में जितने भी प्राणी हों वे सब आनंदित रहें।

४. न हम एक दूसरे को धोखा दें, न किसी जगह एक दूसरे का अपमान करें, और न खीझ या द्वेषबुद्धि से एक दूसरे को दु:ख देने की मन में इच्छा रखें।

५. माता जिस प्रकार अपने स्नेह-सर्वस्व पुत्र को अपना जीवन खर्च करके भी पालती है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों के प्रति हमें असीम प्रेम रखना चाहिए।

६. सर्व प्राणियों के प्रति हमें ऊपर, नीचे और चारों ओर असंबाध, अवैर और असपत्न मैत्री की असीम भावना बढ़ानी चाहिए।

७. खड़े हों तब, चलते हों तब, बैठे हों तब या बिस्तरे पर पड़े हों तब, जबतक नींद न आजाय, तबतक हमें इस मैत्री भावना की स्मृति स्थिर रखनी चाहिए।

इसी अवस्था को इस लोक में **'ब्राह्म जीवन'** कहते हैं।

*

८. जिस मनुष्य के मन से लोभ, द्वेष और मोह ये तीन मनोवृत्तियां नष्ट हो गई हैं, वही चारों दिशाओं में प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव प्रसारित कर सकता है। अपने मैत्रीमय चित्त से चारों दिशाओं में बसनेवाले समस्त प्राणियों पर वह प्रेम की रस-वर्षा करता है। करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावनाओं का उसे अनायास ही सुलाभ हो जाता है।

१—७. सु. नि. (मेत्त सुत्त) ८. अं. नि. (कालाम सुत्त)

अक्रोध

१. 'मुझे अमुक मनुष्यने गाली दी, अमुकने मुझे मारा, अमुकनें मुझे पराजित किया, अमुकने मुझे लूट लिया' इस प्रकार के विचार की जो लोग मन में गांठ बांध लेते हैं, और वैर भँजानें की इच्छा रखते हैं, उनका वैरभाव कभी शांत नहीं होता।

२. वैर तो उन्हींका शांत होता है, जो इस प्रकार के विचार हृदय से निकाल देते हैं कि 'मुझे अमुकनें गाली दी, अमुकने मुझे मारा, अमुकने मेरा पराभव किया, अमुकने मुझे लूट लिया।'

३. वैर से वैर कभी शांत नहीं होता। वैर प्रेम से ही शांत होता है। यही सनातनधर्म है।

*

४. 'दूसरे भले ही न समझें, पर हम तो इस कलह से दूर ही रहेंगे,' ऐसा जो समझते हैं उनका द्वेष या कलह नष्ट हो जाता है।

५. लोगों की हड्डियां तोड़ डालनेवाले, दूसरों का प्राण ले लेनेवाले, गाय, घोड़ा, धन-संपत्ति आदि का हरण करनेवाले और राष्ट्र में विप्लव मचानेंवाले लोग भी अपना संघ बना लेते हैं, उनमें भी एका हो जाता है; तब तुम्हारा संघ क्यों नहीं बन सकता?

*

६. किसी से कटु वचन न बोलो। यदि बोलोगे, तो वह भी तुम से वैसा ही कटु वचन बोलेगा। झगड़े से दु:ख बढ़ता ही है। कटु वचन बोलने से, बदले में, तुम्हें दण्ड मिलेगा। टूटा हुआ कांसा जैसे नि:शब्द रहता है, उसी तरह अगर तुम स्वयं चुप रहोगे, तो तुम निर्वाणपद प्राप्त कर लोगे; तुम्हें कलह नहीं सतायगा।

*

७. क्षमा के समान इस जगत् में दूसरा तप नहीं।

*

८. जो चढ़े हुए क्रोध को चलते हुए रथ की तरह रोक लेता है, उसीको मैं सच्चा सारथी कहूँगा; और लोग तो केवल लगाम पकड़नेवाले हैं।

९. अक्रोध से क्रोध को जीते, भलाई से बुराई को जीते, कृपण को दान से जीते, और झूठ बोलनेवाले को सत्य से जीते।

*

१०. क्रोध करनेवाले के ऊपर जो क्रोध करता है, उसका खुद उससे अहित होता है; पर जो क्रोध का जवाब क्रोध से नहीं देता, वह एक भारी युद्ध जीत लेता है। प्रतिपक्षी को क्रोधान्ध देखकर जो अत्यंत विवेक के साथ शांत हो जाता है, वह अपना और पराया दोनों का ही हित-साधन करता है।

*

११. तुझे कोई गाली दे, और गाली ही नहीं, तेरे गाल पर कोई थप्पड़ मार दे, या पत्थर या हथियार से तेरे शरीर पर कोई प्रहार करे, तो भी तेरे चित्त में विकार नहीं आना चाहिए, तेरे

मुहँ से गंदे शब्द नहीं निकलने चाहिए, तेरे मन में उस समय भी तेरे शत्रु के प्रति अनुकंपा और मैत्री का भाव रहना चाहिए, और किसी भी हालत में क्रोध नहीं आना चाहिए।

१२. मनुष्य तभीतक शांत और नम्र दीखता है, जबतक कोई उसके विरुद्ध अपशब्द नहीं कहता। पर जब उसे अपशब्द या निंदा सुनने का प्रसंग आता है, तभी इस बात की परीक्षा हो सकती है, कि वह वास्तव में शांत और नम्र है या नहीं।

१३. जो धर्म के गौरव से धर्म को पूज्य मानकर शांत और नम्र होता है उसी को सच्चा शांत और उसीको सच्चा नम्र समझना चाहिए। अपना मतलब साधने के लिए कौन शांत और नम्र नहीं बन जाता ?

१४. कोई मौके से बोलता है तो कोई बेमौके से बोल देता है; कोई उचित बात कहता है तो कोई अनुचित बात कह देता है; कोई मधुर वचन बोलता है तो कोई कटु वचन बोलता है; कोई हित की बात कहता है तो कोई अहित की बात कहता है; कोई हितबुद्धि से बोलता है तो कोई द्वेषबुद्धि से बोलता है। इन सब प्रसंगों पर तुम्हारा चित्त विकार के वश नहीं होना चाहिए, तुम्हारे मुहँ से गंदे शब्द नहीं निकलने चाहिए, तुम्हारे अंतःकरण में दया और मैत्री रहनी चाहिए, क्रूरता और द्वेष नहीं; और तुम्हें ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि जिस मनुष्यने तुम्हारे विरुद्ध कोई बात कही है, उसे ही आधार बनाकर तुम समस्त संसार पर मैत्री भावना की सतत वर्षा कर सको।

१५. यदि कोई टोकरी और कुदाली लेकर यह कहे कि 'इस तमाम पृथिवी को मैं खोदकर फेंक दूंगा !' दूसरा मनुष्य लाख

का रंग, हल्दी का रंग और मजीठ का रंग लेकर कहे कि 'इस समस्त आकाश को मैं रँग डालूंगा !' और तीसरा मनुष्य घास की पूली सुलगाकर कहे कि 'इस गंगा नदी को मैं भस्म कर डालूंगा !' तो उन मनुष्यों के प्रयत्नों का पृथिवी, आकाश या गंगा नदी पर कोई असर पड़ने का नहीं। इसी प्रकार दूसरे लोगों के बोलने का तुम्हारे हृदय पर जरा भी बुरा असर नहीं पड़ना चाहिए।

१६. अगर चोर और लुटेरे आकर तुम्हारे शरीर के अंग आरे से काटने लग जायँ, और उस अवसर पर तुम्हारे मन में उन लुटेरों के प्रति क्रोध या द्वेष आ जाय, तो तुम मेरे सच्चे अनुयायी नहीं कहे जा सकते।

ऐसे प्रसंग पर भी तुम्हारे मन में द्वेष नहीं आना चाहिए, तुम्हारे मुहँ से बुरे शब्द नहीं निकलने चाहिए, तुम्हारे अंतःकरण में दया और मैत्री की भावना रहनी चाहिए, और अपने शत्रु को आधारस्वरूप मानकर समस्त संसार पर तुम्हें निस्सीम मैत्री भावना की रसवर्षा करनी चाहिए।

१—३. ध. प. (यमक वग्गो). ४—५. म. नि. (उपक्किलेस सुत्तन्त) ६. ध. प. (दण्ड वग्गो) ७. ध. प. (बुद्ध वग्गो). ८—९. ध. प. (कोध वग्गो) १०. बु. ली. सा. सं. (पृष्ठ ३०९) ११—१६. म. नि. (ककचूपम सुत्तन्त)

तृष्णा

१. प्रमाद-रत मनुष्य की तृष्णा लता की भांति बढ़ती ही जाती है। वह एक वस्तु से दूसरी वस्तुतक इस तरह दौड़ता रहता है, जैसे वन में बंदर एक फल के बाद दूसरे फल की इच्छा करता है।

२. यह जहरीली तृष्णा जिसे जकड़ लेती है, उसके शोक वीरन घास की तरह बढ़ते ही जाते हैं।

३. इस दुर्जेय तृष्णा को जगत् में जो काबू में कर लेता है, उसके शोक इस प्रकार झड़ जाते हैं, जिस प्रकार कमल के पत्ते पर से जल के बिंदु।

४. जैसे जड़ के दृढ़ होने के कारण और उसके नष्ट न होने से वृक्ष कटा हुआ भी फिर से उग आता है, वैसे ही जबतक तृष्णा की जड़ न कटे, तृष्णारूपी अनुशय (मल) नष्ट न हो, तबतक दु:ख बारबार पैदा होता ही रहेगा।

५. ये रागयुक्त संकल्प सोतों के रूप में चारों ओर बह रहे हैं, जिनके कारण तृष्णारूपी लता अंकुरित होती और जड़ पकड़ती रहती है। जहां भी कहीं तुम यह लता जड़ पकड़ती हुई देखो, वहीं प्रज्ञा की कुल्हाड़ी से उसकी जड़ काट डालो।

६. जाल में फँसे हुए खरगोश की तरह तृष्णा के पीछे पड़े हुए ये प्राणी इधर-उधर चक्कर काटते रहते हैं। संयोजनों अर्थात्

मन के बंधनों में जकड़े हुए ये मूढ़ लोग बारबार दुःख और क्लेश पाते हैं।

७. ये जो लोहे, लकड़ी या रस्सी के बंधन हैं, इन्हें बुद्धिमान् लोग दृढ़ बंधन नहीं कहते। इनकी अपेक्षा अधिक दृढ़ बंधन तो वह चिंता है, जो मणि, कुंडल, पुत्र और कलत्र के लिए की जाती है।

८. जो मनुष्य राग में रत रहते हैं वे अपनी ही बनाई धारा में इस प्रकार बह जाते हैं, जैसे मकड़ी अपने ही रचित जाल में फँस जाती है। धीर पुरुष इस धारा को काटकर समस्त आकांक्षाओं और दुःखों से रहित हो जाते हैं।

९. जो प्राणी तर्क-वितर्क आदि संशयों से पीड़ित है, और तीव्रराग में फँसा हुआ है तथा सदा सुख-ही-सुख की अभिलाषा करता है, उसकी तृष्णा बढ़ती ही जाती है, और वह प्रतिक्षण अपने लिए और भी मजबूत बंधन तैयार करता जाता है।

१०. जिसकी तृष्णा नष्ट हो गई, राग से जो विमुक्त हो गया, जो शब्द और उसका अर्थ जानता है और जिसे अक्षरों के क्रम का ज्ञान है, उसे 'महाप्राज्ञ' कहते हैं। निश्चय ही वह अंतिम शरीरवाला है, अर्थात् वह निर्वाण प्राप्त कर लेगा।

११. संसार-समुद्र के पार जाने का प्रयत्न न करनेवाले मूर्ख मनुष्य को ये ऐहिक भोग नष्ट कर देते हैं। भोग की तृष्णा में फँसकर वह दुर्बुद्धि मनुष्य अपने आपका ही हनन करता है।

*

१२. तृष्णा का साथी बनकर बारबार जन्म लेनेवाला मनुष्य मनुष्यत्व अथवा मनुष्येतर भाव को प्राप्त करके संसार-समुद्र को पार नहीं कर सकता।

१३. 'तृष्णा से दुःख की उत्पत्ति होती है'—तृष्णा में यह दोष देखकर भिक्षु को चाहिए कि वह वीततृष्ण, आदानविरहित (अपरिग्रही) और स्मृतिमान् होकर प्रवृज्या लेले।

१४. भवतृष्णा का उच्छेद कर देनेवाले शांतचित्त भिक्षु की जन्मपरंपरा नष्ट हो जाती है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

*

१५. मनुष्य जितना ही कामादि का सेवन करता है, उतनी ही उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है। काम के सेवन में क्षणमात्र के लिए ही रसास्वाद मालूम देता है।

१—११. ध. प. (तण्हा वग्गो) १२—१४. सु. नि. (द्वयतानुपस्सना सुत्त) १५. म. नि. (मागंदिय सुत्तन्त)

अंतःशुद्धि

१. हे ब्राह्मण ! इन लकड़ियों को जलाकर तू क्यों शुद्धि मानता है ? यह शुद्धि नहीं है । यह तो एक बाह्य वस्तु है । पंडित लोग इसे शुद्धि नहीं कहते ।

मैं यह 'दारु-दाह' छोड़कर अपने अंदर ही जोति जलाता हूं । नित्य अग्निवाला, नित्य एकान्तचित्तवाला होकर में ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता हूं । यही सच्ची शुद्धि है ।

२. हे ब्राह्मण ! तेरा यह अभिमान खरिया का भार है, क्रोध धुआं है, मिथ्या भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है और हृदय जोति का स्थान है । आत्मा का दमन करने पर ही पुरुष को यह 'अन्त-ज्योंति' प्राप्त होती है । यही सच्ची आत्म-शुद्धि है ।

३. हे ब्राह्मण ! शीलरूपी घाटवाले निर्मल धर्मसरोवर में, जिसकी संतजन प्रशंसा करते हैं, नहाकर कुशल जन शुद्ध होते हैं । वे शरीर को बिना भिगोये ही पार उतर जाते हैं ।

४. श्रेष्ठ शुद्धि की प्राप्ति सत्य, धर्म, संयम और ब्रह्मचर्य पर निर्भर करती है ।

*

५. अरे मूर्ख ! यह जटा-जूट के रखा लेने से तेरा क्या बनेगा, और मृगचर्म पहनने से क्या ? अंतर तो तेरा रागादि मलों से परिपूर्ण है, बाहर तू क्या धोता है ?

*

६. बाहुका, अधिकक्क, गया और सुंदरिका में, सरस्वती और प्रयाग तथा बाहुमती नदी में कलुषित कर्मोंवाला मूढ़ चाहे नित्य ही नहावे, पर शुद्ध नहीं होगा। क्या करेगी सुंदरिका, क्या करेगा प्रयाग और क्या करेगी यह बाहुलिका ? ये सब तीर्थ उस कृतकिल्विष (पापी) दुष्ट मनुष्य को शुद्ध नहीं कर सकते।

७. शुद्ध मनुष्य के लिए सदा ही फल्गू नदी है, सदा ही उपोसथ (व्रत का दिन) है। शुद्ध और शुचिकर्मा के व्रत तो सदा ही पूरे होते रहते हैं।

८. तू तो समस्त प्राणियों की कल्याण-कामना कर, यही तेरा तीर्थस्थान है। यदि तू असत्य नहीं बोलता, यदि तू प्राणियों की हिंसा नहीं करता, यदि तू बिना दिया हुआ नहीं लेता, और यदि तू श्रद्धावान् तथा मत्सर-रहित है, तो फिर गया जाकर क्या करेगा ? तेरे लिए तो यह क्षुद्र जलाशय ही गया है।

*

९. पानी से शुद्धि नहीं होती। जो सत्यनिष्ठ और धर्मवान् है वही शुचि है,, वही शुद्ध है।

*

१०. अंतःशुद्धि न दृष्टि से, न श्रुति से और न ज्ञान से ही प्राप्त होती है। शीलव्रत पुरुष भी आध्यात्मिक शुद्धि नहीं दिला सकता; पर इतने से यह न समझना कि ये निरर्थक हैं और इनका त्याग करने से शुद्धि प्राप्त होती है। जबतक सम, विशेष और हीन का भाव बना रहेगा, तबतक शुद्धि दुर्लभ है।

*

११. जो तृष्णा के बंधन से नहीं छूटा उस मनुष्य की शुद्धि

न नग्न रहने से, न जटा रखाने से, न पंक लपेटने से, न भस्म रमाने से और न विभिन्न आसनों के लगाने से ही होती है।

*

१२. तू अपने किये पापों से अपने को ही मलिन बना रहा है। पाप छोड़दे तो स्वयं ही शुद्ध हो जायगा। शुद्धि और अशुद्धि अपनी ही है। अन्य मनुष्य अन्य मनुष्य को शुद्ध नहीं कर सकता।

*

१३. जिन वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है वे सभी अनित्य हैं, जो इस बात को प्रज्ञा की आंखों से देखता है, वह सभी दुःखों से उदासीन हो जाता है। चित्त-शुद्धि का यही सच्चा मार्ग है।

१४. जितनी भी संस्कृत या उत्पन्न वस्तुएँ हैं वे सभी दुःख-दायी ह। जो इस बात को जानता है और प्रज्ञा की आंखों से देखता है, वह सभी दुःखों से विरत हो जाता है। चित्त-शुद्धि का यही सच्चा मार्ग है।

१५. जितने भी धर्म या पदार्थ हैं वे सभी अनित्य हैं। जो इस बात को जानता है और प्रज्ञा की आंखों से देखता है, वह समस्त दुःखों से विरत हो जाता है। चित्त-शुद्धि का यही सच्चा मार्ग है।

१-४. बु. च. (अत्तदीपसुत्त) ५. ध. प. (ब्राह्मण वग्गो) ६-८. म. नि. (वत्थ सुत्तन्त) ९. बु. च. (जटिल सुत्त) ११. ध. प. (दण्ड वग्गो) १२. ध. प. (अत्त वग्गो) १३-१५. ध. प. (मग्ग वग्गो)

चित्त

१. जिस समय मनुष्य का चित्त कामविकार से व्यग्र होता है और कामविकार के उपशमन का रास्ता उसे दिखाई नहीं देता, उस समय उस कामान्ध को यह नहीं सूझता, कि क्या तो स्वार्थ है और क्या परार्थ।

२. जिस समय उसका चित्त क्रोधाभिभूत अथवा आलस्य के कारण जड़वत्, भ्रांत अथवा संशयग्रस्त हो जाता है, उस समय वह यथार्थरीति से यह नहीं समझता कि अपना अथवा दूसरे का हित किसमें है ।

३. बर्तन के पानी में काला रंग डाल देने के बाद जैसे उसमें हमें अपना प्रतिबिम्ब ठीकठीक नहीं दिखाई देता, उसी तरह जिसका चित्त कामविकार से व्यग्र हो जाता है, उसे अपने हित-अहित का ज्ञान नहीं रहता।

४. स्वच्छ पानी का बर्तन जब गरम हो जाता है, तब उस पानी से भाप निकलने लगती है और वह खोलनें लगता है। उस समय मनुष्य उस खोलते हुए पानी में अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख सकता।

इसी तरह मनुष्य जब क्रोधाभिभूत होता है, तब उसकी समझ में यह नहीं आता कि उसका आत्महित किस में है।

५. उस बर्तन के पानी में अगर सिवार हो, तो मनुष्य उसमें अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख सकता।

इसी प्रकार जिसका चित्त आलस्य से पूर्ण होता है, वह अपना ही हित नहीं समझ सकता, दूसरों का हित कैसे समझ सकेगा ?

६. उस बर्तन का पानी अगर हवा से हिलने-डुलने लगे, तो उसमें मनुष्य अपना प्रतिविम्ब कैसे देख सकता है ?

इसी प्रकार भ्रांतचित्त मनुष्य यह समझ ही नहीं सकता कि किसमें तो अपना हित है और किसमें पराया।

७. वह पानी अगर हाथ से हिला दिया गया हो, तो मनुष्य उसमें अपना प्रतिविम्ब ठीकठीक नहीं देख सकता।

इसी तरह जिसका चित्र संशयग्रस्त होगया है; वह अपना और पराया हित-अहित समझ ही नहीं सकता।

८. वही पानी यदि निर्मल और शांत हो तो मनुष्य उसमें अपना प्रतिविम्ब स्पष्ट देख सकता है।

इसी प्रकार जिसका चित्त कामच्छंद, व्यापाद (क्रोध), आलस्य, भ्रांतता और संशयग्रस्तता इन पांच आवरणों से मुक्त होगया है, वही अपना और पराया हित यथार्थरीति से समझ सकता है।

*

९. जिस प्रकार पानी से निकलकर मछली थल में आ पड़नेपर तड़फड़ाती है, उसी तरह यह चित्त राग, द्वेष और मोह के फंदे से निकलने के लिए कांपता है।

१०. कठिनाई से वश में आनेंयोग्य, चंचल और जहां-तहां दौड़नेवाले चित्त का दमन करना अच्छा है। दमन किया हुआ चित्त ही शांति-दायक होता है।

११. कठिनाई से समझ में आनेयोग्य, अत्यंत चालाक और जहां-तहां दौड़नेवाले चित्त की बुद्धिमान् पुरुष को रक्षा करनी चाहिए; सुरक्षित चित्त से सदैव सुख मिलता है।

१२. दूर-दूरतक दौड़ लगानेवाले, एकाकी चलनेवाले शरीर-रहित और हृदय की गुफा में छिपे हुए इस चित्त को जो संयम में रखता है वही प्रबल मार (विषयों) के बंधन से मुक्त हो सकता है।

१३. जिसका चित्त स्थिर नहीं, जो सच्चे धर्म को नहीं जानता और जिसके हृदय में शांति नहीं, उसे पूर्ण ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है?

१४. जिसका चित्त मल-रहित और अकंप्य है, जो सदा ही पाप और पुण्य से विहीन है, उस सतत सजग रहनेवाले पुरुष के लिए कहीं भी भय नहीं।

१५. इस शरीर को घड़े के समान टूटजानेवाला समझकर इस चित्त को गढ़ के समान सुदृढ़ करके प्रज्ञा के अस्त्र से विषयों के साथ युद्ध करे; और जब विषयों को जीत ले तो उनके ऊपर कड़ी नजर रखे, असावधानी न करे।

१६. जितना हित माता-पिता या दूसरे भाई-बंधु कर सकते हैं, उससे कहीं अधिक हित मनुष्य का संयत चित्त करता है।

१७. अगर मकान का छप्पर खराब है, तो उसकी दीवारें वगैरा अरक्षित ही समझनी चाहिए, धीरे-धीरे वह मकान भूमि-सात् ही होने को है।

इसी तरह जो अपने चित्त को नहीं सँभालता, उस मनुष्य के कर्म विकारग्रस्त हो जाते हैं, और इसका अत्यंत अनिष्ट परिणाम

होता है। अपने चित्त को यदि वह सँभाल लेता है तो उसके सारे कर्म सुरक्षित रहते हैं, और वह शांति से प्राण-त्याग करता है।

१८. जिस जमय चित्त में जड़ता आ गई हो, उस समय प्रश्रब्धि (शांति), समाधि और उपेक्षा इन तीन बोध्यंगों की भावना करनी ठीक नहीं। किसी मनुष्य को आग सुलगानी हो, और वह चूल्हे में गीली लकड़ियां और गीला घासपात रखकर उसे फूंकने लगे तो क्या आग सुलग जायगी ?

इसी प्रकार जिसका चित्त जड़ हो गया है, वह यदि प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा इन तीन बोध्यंगों की भावना करेगा, तो उसके चित्त को उत्तेजना मिलने की नहीं।

१९. उस समय तो धर्म-प्रविचय (धर्मान्वेषण), वीर्य (उद्योग या मनोबल) और प्रीति (हर्ष) इन तीन बोध्यंगों की ही भावनाएँ अत्यंत उपयोगी हैं। सूखी लकड़ी और सूखा घास डालने से आग तुरंत सुलग जाती है।

इसी तरह चित्त की जाड्यावस्था में धर्मप्रविचय, वीर्य और प्रीति इन तीन संबोध्यंगों की भावना करने से चित्त की जड़ता दूर हो जाती है और उसे अवश्य उत्तेजना मिलती है।

२०. पर, जिस समय चित्त भ्रांत हो गया हो, उस समय धर्मप्रविचय, वीर्य और प्रीति इन तीन बोध्यंगों की भावना करनी ठीक नहीं। इन बोध्यंगों की भावना से चित्तभ्रांति का उपशमन नहीं होता, बल्कि वह और भी अधिक भ्रांत हो जाता है।

२१. उस समय तो प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा इन तीन बोध्यंगों की भावना करनी चाहिए, क्योंकि इन बोध्यंगों से भड़का

हुआ चित्त ठिकाने पर आ जाता है, इन्ही बोध्यंगों की भावना से भ्रांतचित्त को शांति मिलती है ।

*

२२. केवल यह चित्त ही मरणशील मनुष्य का साथी है ।

*

२३. जिस प्रकार उस मकान में वर्षा का पानी सहज ही पैठ जाता है, जो ठीक तरह से छाया हुआ नहीं होता, उसी प्रकार असंयत (अभावित) चित्त में राग सहज ही प्रवेश कर जाता है ।

*

२४. जैसे अच्छी तरह छाये हुए मकान में वर्षा का पानी आसानी से नहीं पहुँच सकता, वैसे ही सुसंयत चित्त के अन्दर राग का प्रवेश नहीं हो सकता ।

१. ८—बुद्धलीला-सार-संग्रह (भाग ३, पृष्ठ २७०) ९–१६. ध. प. (चित्तवग्गो) १७. अं. नि. (कूटसुत्त) १८–२१. बु. ली. सं. (पृष्ठ २७१) २२. अं. नि. (दसक निपात) २३–२४. ध. प. (यमक वग्गो)

अनित्यता

१. अरे ! यह तेरा गर्वीला रूप एक दिन जीर्ण-शीर्ण हो जायगा। यह क्षणभंगुर शरीर रोगों का घर है। इस देह को सड़-सड़कर भग्न हो जाना है। आश्चर्य ही क्या—जीवन मरणान्त जो ठहरा।

२. इस जराजीर्ण शरीर के साथ कौन मूर्ख प्रीति जोड़ेगा ? इसकी हड्डियों को तो जरा देखो—शरदकाल की अपथ्य परित्यक्त लौकी की भांति, या कबूतरों की सी सफेद ये हड्डियां !

३. यह शरीर क्या है, हाड़ों का एक गढ़ है। यह गढ़ मांस और रक्त से लिपा हुआ है। इस गढ़ के भीतर बुढ़ापा, मृत्यु, अभिमान और डाहने अड्डा बना रखा है।

४. इस चौथे पन में तू पीले पत्ते की तरह जीर्ण हो गया है। देख, ये यमदूत तेरे सामने खड़े हैं। प्रयाण के लिए तो तू तैयार है, पर पाथेय (राह-खर्च) तेरे पास कुछ भी नहीं ! अतः अब भी तू अपने लिए रक्षा का स्थान बना, उद्योग कर, पंडित बन, अपना यह मल धो डाल, दोषरहित हो जा। इस प्रकार तू आर्यों का दुर्लभ दिव्यपद प्राप्त कर लेगा।

५. आयु तेरी अब समाप्त हो चली है। तेरा कोई निवास-स्थान भी यहां नहीं, न पाथेय ही है। अतः तू अपने लिए रक्षा का स्थान बना, उद्योग कर, पंडित बन, और अपना यह मल

पखारकर दोषरहित हो जा। इस तरह तू अब भी आर्यों का दुर्लभ दिव्यपद प्राप्त कर लेगा।

*

६. इस देह के भीतर कैसी-कैसी घिनौनी चीजें भरी हुई हैं— आंतें, यकृत्-पिंड, मूत्राशय, फेफड़े, तिल्ली, लार, थूक, पसीना, चरबी, रक्त, पीव, पित्त, विष्ठा और मूत्र !

७. इस नौ दरवाजे की देह से कैसी-कैसी गंदी चीजें निकला करती हैं—आंख, कान, नाक, मुहँ ये सभी मलद्वार हैं। शरीर के एक-एक छेद से पसीना निकलता है।

८. जब इस देह में से प्राण निकल जाते हैं, तो यह फूल जाती है और नीली पड़ जाती है। मरघट में उसे फेंक देते हैं और तब सगे सम्बन्धी भी उस देह की उपेक्षा करते हैं।

९. कुत्ते, सियार, भेड़िये और कीड़े वहां उस देह को खाते हैं और कौए और गीध भी महोत्सव मनाते हैं।

१०. ऐसी क्षणभंगुर और घृणित देह पर जो गर्व और दूसरों की अवहेलना करता है, उसका कारण सिवा उसकी मूढ़ता के और हो ही क्या सकता है ?

*

११. जागो ! बैठ जाओ ! दृढ़ निश्चय के साथ शांति का अभ्यास करो। तुम्हें गाफ़िल देखकर यह मृत्युराज मार कहीं अपने मोहपाश में न फँसा ले !

१२. शल्य तुम्हारे शरीर में चुभा हुआ है, और तुम उससे पीड़ित हो रहे हो। आश्चर्य है कि इस दुःख-पीड़ा में भी तुम्हें नींद आरही है !

१३. अप्रमाद और प्रज्ञा के जरिये अपने शरीर में चुभा हुआ यह तीक्ष्ण शल्य निकाल लो ना ?

*

१४. अरे, यह जीवन कितना अल्प है ! सौ वर्ष पूरे होने के पहले ही यह समाप्त हो जाता है। और जो इससे अधिक जीता है वह भी एकदिन जराजीर्ण होकर मर जाता है।

१५. मनुष्य जिसे मानता है कि यह मेरा है उसे भी एक दिन मृत्यु-द्वारा नष्ट होना ही है, यह समझकर बुद्धिमान् धर्मोपासक 'ममत्व' के ऊपर निर्भर न करे।

१६. सपने में देखी हुई वस्तु को जागने के बाद जैसे मनुष्य देख नहीं सकता, वैसे ही वह अपने परलोकवासी प्रियजनों को नहीं देख सकता।

१७. जो प्राणी परलोकवासी हो जाता है उसका यहां केवल नाम ही शेष रह जाता है।

१८. ममत्व में लुब्ध मनुष्य न तो शोक का त्याग कर सकते हैं, न दुःख और डाह का ही।

*

१९. ओह ! यह तुच्छ शरीर शीघ्र ही चेतनाशून्य हो सूखे ठूंठ की तरह पृथिवी पर गिर रहेगा।

*

२०. राग आदि के पुष्पों को चुननेवाले आसक्तियुक्त मनुष्य को मृत्यु उसी तरह पकड़ ले जाती है, जिस तरह कि सोये हुए गांव को बाढ़ बहा ले जाती है।

*

२१. सोये हुए गांव को जैसे भारी बाढ़ बहा ले जाती है, वैसे ही पुत्र कलत्रादि में आसक्त पुरुष को धोखे-ही-धोखे में मौत उठा ले जाती है।

२२. न पुत्र रक्षा कर सकता है, न पिता और न बंधु-बांधव ही। जब मौत आकर धर दबाती है, तब न जातिवाले रक्षक हो सकते हैं, न परिवारवाले।

*

२३. अनित्यता न तो नगर-धर्म है, न ग्राम-धर्म, और न वह कुलधर्म ही है। समस्त मनुष्यों और देवताओं का यही स्वभाव है कि एक-न-एक दिन उन्हें मरना ही होगा।

*

२४. मूर्ख सोचता है कि 'यह पुत्र मेरा है', 'यह धन मेरा है!' अरे, जब यह शरीर ही अपना नहीं है, तब किसका तो पुत्र और किसका धन ?

*

२५. जरा देखो तो इस विचित्र शरीर को। तमाम व्रण ही व्रण हैं। पीड़ित है, तो भी अनेक संकल्पों से युक्त है! अरे, इसकी स्थिति ही अनियत है। क्या ठिकाना, कब छूट जाय।

*

१—५. ध. प. (जरा वग्गो). ६—१०. सु. नि. (विजयसुत्त) ११—१३. सु. नि. (उट्ठान सुत्त) १४—१८. सु. नि. (जरासुत्त) १९. ध. प. (चित्त वग्गो) २०. ध. प. (पुप्फ वग्गो) २१—२२. ध. प. (मग्ग वग्गो) २३. थेरी अपदान (तृतीय भाणवार) २४. ध. प. (बाल वग्गो) २५. ध. प. (जरा वग्गो)

शोक किसके लिए ?

१. ऐसा कोई उपाय नहीं कि जिससे मृत्यु न हो। जिसने जन्म लिया है वह मरेगा अवश्य। प्राणियों का स्वभाव ही मृत्यु है।

२. पके हुए फलों को जिस तरह डाल से नीचे गिर पड़ने का भय है, उसी तरह जन्मे हुए प्राणियों को मृत्यु का हमेशा ही भय लगा रहता है।

३. कुम्हार के गढे हुए मिट्टी के बर्तन का जिस प्रकार फूटने पर पर्यवसान हो जाता है, उसी प्रकार प्राणियों के जीवन का मृत्यु में पर्यवसान होता है।

४. छोटा हो या बड़ा, मूर्ख हो या पंडित, सभी मृत्यु के अधीन हैं। ये सभी प्राणी मृत्युपरायण हैं।

५. मृत्यु और जरा से यह सारा संसार ग्रसित हो रहा है। यह तो लोक का स्वभाव ही है, ऐसा समझकर आत्मज्ञ पंडित शोक नहीं करते।

६. जिसके आने और जाने का मार्ग तुझे मालूम नहीं, और जिसके दोनों ही अंत तेरे देखने में नहीं आते, उसके लिए तू अकारथ ही शोक करता है।

७. कितना ही रोओ, कितना ही शोक करो, इससे चित्त को शांति तो मिलने की नहीं। उलटा दुःख ही बढेगा, और शरीर पर भी शोक का बुरा प्रभाव पड़ेगा।

८. आप ही अपने को कष्ट देनेवाला मनुष्य क्षीणकाय और निस्तेज हो जाता है। शोक से उन मृत प्राणियों को कोई लाभ तो पहुंचता नहीं। अतएव यह शोक व्यर्थ ही है।

९. कोई सौ वर्ष या इससे भी अधिक जीवित रहे, तो क्या—एक-न-एक दिन तो उसे प्रियजनों के बीच से अलग होना ही है।

१०. अतः जो अपने को सुखी रखना चाहता है, उसे अपनें अंतःकरण से इस शोकरूपी शल्य को खींचकर फेंक देना चाहिए।

*

११. यह चीज मेरी है या दूसरों की, ऐसा जिसे नहीं लगता और जिसे ममत्व की वेदना नहीं होती, वह कभी यह कहकर शोक नहीं किया करता कि मेरी वह चीज नष्ट हो गई है।

*

१२. प्रिय वस्तु से ही शोक उत्पन्न होता है, और प्रिय से ही भय। प्रिय वस्तुओं के बंधन से जो मुक्त है, उसे शोक नहीं; फिर भय कहां से हो?

१३. प्रेम (मोहासक्ति) से ही शोक उत्पन्न होता है, और प्रेम से ही भय; प्रेम से जो मुक्त हो गया है उसे शोक कैसा—और फिर भय कहां से होगा?

१४. इसी प्रकार राग, काम और तृष्णा से शोक तथा भय उत्पन्न होता है। राग, काम और तृष्णा से जो विमुक्त है, उसका शोक से क्या संबंध—और फिर उसे भय कहां से होगा?

*

१५. मनुष्य तो है ही क्या, ब्रह्मा के भी वश की यह बात नहीं कि जो जराधर्मी है उसे जरा (बुढ़ापा) न सताये, जो मर्त्य

है उसकी मृत्यु न हो, जो क्षयवान् है उसका क्षय न हो और जो नाशवान् है उसका नाश न हो ।

१६. किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाने के प्रसंगपर मूढ़ लोग यह विचार नहीं करते कि 'यह बात तो है नहीं कि मेरे ही प्रियजन को बुढापा, व्याधि और मृत्यु का शिकार होना पड़ा है, यह तो सारे संसार का धर्म है, प्राणिमात्र जरा और मृत्यु के पाश में बँधे हुए हैं !'

१७. मूढ़ लोग विवेकान्ध होकर शोक-समुद्र में डूब जाते है, और किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। न उन्हें अन्न रुचता है, न जल। उनके शरीर की कांति क्षीण पड़ जाती है। काम-काज सब बंद हो जाता है। उनकी यह दशा देखकर उनके शत्रु आनंद मनाते हैं, कि चलो अच्छा हुआ, इनका प्रियजन तो मरा ही, यह भी उसके वियोग में मरनेवाले हैं।

१८. पर बुद्धिमान् और विवेकी मनुष्य की बात इससे जुदी है। वह जरा, व्याधि, मरण, क्षय और नाश का शिकार होने पर यथार्थरीति से विचार करता है। यह देखकर कि इस विकार से तो जगत् में कोई भी अछूता नहीं बचा, वह शोक नहीं करता। वह अपने अंतःकरण से शोक के उस विषाक्त वाण को खींचकर फेंक देता हैं, जिस वाण से विद्ध मूर्ख मनुष्य अपनी ही हानि करते हैं।

१–१०. सु. नि. (सल्ल सुत्त) ११. सु. नि. (अत्तदंड सुत्त) १२-१४ ध. प. (पिय वग्गो) १५–१८. अ. नि. (कोसल सुत्त)

विषयों का मीठा विष

१. नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा और त्वचा इन पांच इन्द्रियों के रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श से मनुष्य को जो सुख प्राप्त होता है, उसी को मैं विषयों की जहरीली मिठाई कहता हूं।

२. एक नौजवान आदमी व्यापार, खेती-पाती या नौकरी करके अपना निर्वाह करता है। अपने रोजगार-धन्धे में उसे भारी-से-भारी कष्ट झेलना पड़ता है, तो भी विषय-भोग की वस्तु प्राप्त करने के लिए वह दिन-रात प्रयत्न किया करता है। इतना परिश्रम करने पर भी, यदि उसकी मनचाही चीज उसे नहीं मिलती तो वह शोकाकुल होकर विचार-विमूढ़ बन जाता है।

३. यदि उसे अपने उद्योग में यश मिल गया और अपनी वांछित वस्तु प्राप्त हो गई, तो वह दिन-रात इसी चिन्ता में पड़ा रहता है, कि कोई दुष्ट राजा या चोर उसे लूट न ले जायें, आग या बाढ़ से वह नष्ट न हो जाय और उससे दुश्मनी माननेवाले बन्धु-बान्धव कहीं उसे नुकसान न पहुँचा बैठें।

इन विचारों से उसका मन सदा ही शंकित और त्रस्त रहता है। और अगर उसकी आशंका सत्य निकली, तो उस मनुष्य के दुःख का पार नहीं रहता।

४. इन विषयों के लिए ही एक राजा दूसरे राजा के साथ, क्षत्रिय क्षत्रिय के साथ, ब्राह्मण ब्राह्मण के साथ, वैश्य वैश्य के साथ,

माता पुत्र के साथ, पुत्र माता के साथ, बाप लड़के के साथ, बहिन भाई के साथ, भाई बहिन के साथ और मित्र मित्र के साथ लड़ता है। इन विषयों के पीछे क्या-क्या काण्ड नहीं होते—गाली-गलौज होता है, हाथापाई होती है, हथयार चल जाते हैं और लोग मारे भी जाते हैं, और नहीं तो मरणांतक दुःख तो भोगना ही पड़ता है।

५. इन विषयों की प्राप्ति के लिए ही लोग लड़ने पर आमादा हो जाते हैं, और भीषण युद्धक्षेत्र में उतर पड़ते हैं। खूब घमासान युद्ध होता है, और रणक्षेत्र में कितने ही मनुष्य अस्त्र-शस्त्रों से मारे जाते हैं, कितने ही आहत होते हैं। विषयों की इस जहरीली मिठाई के पीछे उन्हें मरणान्तक दुःख भोगना पड़ता है।

६. इस विषय-भोग के लिए कितने ही मनुष्य चोरी करते हैं, डाका डालते हैं, राहगीरों पर टूट पड़ते हैं या दूसरों की स्त्रियों के साथ व्यभिचार करते हैं। विषय-भोग के शिकार उन चोरों, डाकुओं और व्यभिचारियों को पकड़कर राजा अनेक प्रकार का दण्ड देता है। उनके हाथ-पैर तोड़ डालते हैं, उनके नाक-कान काट लेते हैं या उनका सिर ही उड़ा देते हैं।

७. इस विषाक्त विषय-भोग के लिए ही मनुष्य मन, वचन और काया से इस लोक में घोर-से-घोर दुराचरण करता है, और मृत्यु के बाद दुर्गति को प्राप्त होता है।

८. विषयों की आसक्ति छोड़ देने से ही मनुष्य विषय-विमुक्त हो सकता है।

९. जो ज्ञानवान् मनुष्य विषय-माधुर्य, विषय-दोष और विषय-मुक्ति को यथार्थरीति से जानता है, वह स्वयं विषयों का

त्याग कर देता है, और दूसरों को भी विषयों के त्याग का उपदेश करता है।

१०. सौन्दर्य की मिठाई क्या है? किसी अत्यन्त सुरूपवती तरुणी को देखकर मन में जो मादक सुख उत्पन्न होता है, वही सौन्दर्य की मिठाई है।

११. पर इस सौन्दर्य की मिठाई में तो विकार है। वही सुन्दरी तरुणी जब वृद्धा हो जाती है, जब उसकी कमर झुक जाती है, बिना हाथ में लकड़ी लिये जब वह चल नहीं सकती, उसके सब अंग शिथिल पड़ जाते हैं, दांत गिर जाते हैं, बाल सन-से सफेद हो जाते हैं, गर्दन हिलने लगती है, चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती हैं, तब उसका वह पहले का सरस सौन्दर्य और ललित लावण्य विनष्ट हो जाता है। यह है सौन्दर्य का दोष।

१२. उस सुन्दरी तरुणी के शव को तुम श्मशान में पड़ा हुआ देखो, तो क्या तब भी तुम उस सौन्दर्य को विकारमुक्त मानोगे? कौओं और कुत्तों का खाया हुआ वह शव! कहां गया वह सरस सौन्दर्य, कहां गया वह ललित लावण्य, और कहां गया वह तरल तारुण्य?

१३. सौन्दर्य के विषय में आसक्ति न रखना ही सौन्दर्य-जन्य भय से मुक्त होने का सच्चा मार्ग है। सौन्दर्य की मिठास क्या है, उसमें दोष क्या है, और उस दोष से हम किस प्रकार मुक्त हो सकते हैं, इस सब को जो बुद्धिमान् पुरुष यथार्थरीति से समझता है, वह स्वयं तो रूपरस के विषय से मुक्त हो ही जायगा, दूसरों को भी सौन्दर्य-मुक्ति के मार्ग पर चलने की शिक्षा देगा।

१—१३ म. नि. (महादुक्खक्खन्ध सुत्त)

वैराग्य

१. जैसे थोड़े पानी में मछलियां तड़पड़ाया करती हैं, वैसे ही एक दूसरे के साथ अंदर-ही-अंदर विरोध करके दौड़धूप करते हुए लोगों को देखकर मेरे अंतःकरण में भय का प्रवेश हुआ।

२. मुझे कुछ ऐसा लगने लगा कि यह जगत् असार है और समस्त दिशाएँ मानो कांप रही हैं। इस जगत् में मैंने अपने लिए आश्रय-स्थान खोजा, पर वह कहीं भी न मिला!

३. अरे, अंततक ये लोग लड़ते ही रहेंगे—यह देखकर मुझे दुनिया से अत्यंत अरुचि होगई। तब अपने ही हृदय में चुभा हुआ दुर्दर्श शल्य मुझे दिखाई दिया।

४. यदि शल्य से मनुष्य विधा हुआ है तो वह भागदौड़ मचायगा ही; पर यदि वह अंतर में विधा हुआ वाण खींचकर निकाल लिया जाय, तो अपनी सारी दौड़धूप बंद करके वह एक जगह स्थिर हो जायगा।

*

५. ओह! कसी भयंकर आग लगी है! सब जल रहे हैं। नेत्रेन्द्रिय जल रही है। रूप जल रहा है। नेत्रेन्द्रिय से उत्पन्न विज्ञान भी जल रहा है। नेत्र का विषय जल रहा है।

६. ये सब किस आग से जल रहे हैं? राग की आग से, द्वेष की आग से और मोह की आग से ये सब जल रहे हैं। जन्म,

जरा, मृत्यु, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य आदि परिणामों से ये सब जल रहे हैं।

७. इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय और उसका विषय शब्द, घ्राणेन्द्रिय और उसका विषय गंध, जिव्हा और उसका विषय रस, त्वचा और उसका विषय स्पर्श, मन और उसका विषय धर्म—ये सभी जल रहे हैं। रागाग्नि, द्वेषाग्नि और मोहाग्नि इन्हें जला रही हैं।

८. जन्म, जरा, मृत्यु, शोक, और दुःख को जानकर श्रुतवान् आर्यश्रावक (गृहस्थ) को चाहिए कि वह चक्षु और रूप, श्रोत और शब्द, घ्राण और गंध, जिव्हा और रस, त्वचा और स्पर्श तथा मन और धर्म में आसक्त न हो, निर्वेद के द्वारा विराग-निधि प्राप्त करले।

९. विराग होने पर ही मनुष्य को ज्ञान उत्पन्न होता है, और तभी उसका जन्मक्षय होता है। ब्रह्मचर्यव्रत भी तभी समाप्त होता है। मनुष्य फिर यहां आकर जन्म नहीं लेता।

*

१०. मैं जराधर्मी हूँ, व्याधिधर्मी हूँ, मरणधर्मी हूँ, इन तमाम प्रिय वस्तुओं और प्रियजनों से निश्चय ही एक दिन वियोग होगा। मैं जो बुरा या अच्छा कर्म करूँगा, उसका मुझे ही भागीदार होना पड़ेगा। अतः कर्म ही मेरा धन है, और कर्म ही मेरा मित्र।

११. 'मैं जराधर्मी हूँ' ऐसा विचार करने से मनुष्य का यौवन-मद नष्ट होजाता है। इस तारुण्यमद के कारण मनुष्य काया, वचन और मन से पाप करता है; पर जो यह स्मरण रखता है कि मैं खुद जराधर्मी हूँ, उसका यह मद नष्ट होजाता है—नष्ट नहीं, तो कुछ कम तो हो ही जाता है।

१२. 'मैं व्याधिधर्मी हूँ' इस बात का चिंतन करनें से यह लाभ होता है कि जिस आरोग्यमद के कारण मनुष्य त्रिविध पापों का आचरण करता है वह नष्ट होजाता है—नष्ट नहीं, तो कुछ कम तो हो ही जाता है।

१३. 'मैं मरणधर्मी हूँ' इस बात का चिंतन करते रहनें से मनुष्य का जीवितमद नष्ट होजाता है है। यही इस चिंतन का लाभ है।

१४. 'तमाम प्रिय वस्तुओं और प्रियजनों से एकदिन वियोग होने को हैं' इस बात का स्मरण रखने से मनुष्य प्रिय वस्तु अथवा प्रियजन के अर्थ पापाचरण करने में प्रवृत्त नहीं होता, और न उसे वियोग-दुःख का ही भाजन बनना पड़ता है।

१५. जिस वस्तु का जन्म हुआ है उसका नाश न हो, क्या यह शक्य है?

१–४. सु. नि. (अत्तदंड सुत्त) ५–९. बुद्धदेव (जगन्मोहन वर्मा) १०–१४. बु. ली. सं. (पृष्ठ २६३) १५. दी. नि. (महापरिनिब्बाण सुत्त)

वाद-विवाद

१. निंदा और स्तुति दोनों ही विवाद के विषफल हैं। ये क्षुद्र वस्तुएँ चित्त के उपशमन की कारणभूत नहीं बनतीं। अतः विवाद कल्याणप्रद नहीं है, ऐसा जाननेवाला कभी विवाद में नहीं पड़ता।

२. ये जो भिन्न-भिन्न मत-मतांतर हैं, उन सबको विद्वान् लोग स्वीकार नहीं करते। दृष्ट और श्रुत के विषय में जिसे राग उत्पन्न नहीं होता ऐसा निश्चल व्यक्ति विवाद में पड़कर क्यों चंचल होनें लगा ?

३. जिसे कुछ लोग परम धर्म मानते हैं उसे ही कुछ लोग हीन धर्म मानते हैं। ये सभी जब अपने को कुशल समझते हैं, तो फिर उनमें कौन वाद सच्चा है ?

४. वे कहते हैं कि हमारा ही धर्म परिपूर्ण है, और दूसरों का धर्म हीन है। इस प्रकार लड़ाई-झगड़ा खड़ा करके वे वाद-विवाद करते हैं, और कहते हैं कि हमारी ही दृष्टि सच्ची है !

५. मनुष्य यदि दूसरों की की हुई निंदा से ही हीन ठहरने लगे, तो फिर किसी भी पंथ का मनुष्य श्रेष्ठ नहीं ठहर सकता; क्योंकि अपने-अपने पंथ को दृढ़ (नित्य) समझनेवाले लोग दूसरों के पंथ को हीन ही कहते हैं।

६. और जिस तरह वे अपनें-अपने पंथ की स्तुति करते हैं उसे देखते हुए तो यही निश्चय होता है कि वे सभी सद्धर्म की

पूजा करते है, और सभी पंथ सच्चे ठहरते हैं; क्योंकि उस प्रत्येक पंथ में शुद्धि का निर्देश तो है ही ।

७. पर ब्राह्मण को दूसरों से कुछ सीखना नहीं है, और उस का यह आग्रह भी नहीं कि सब पंथों में यही पंथ श्रेष्ठ है। वह तो वाद-विवाद से परे चला जाता है, क्योंकि वह यह नहीं मानता कि कोई भी धर्मपंथ सर्वश्रेष्ठ है।

८. कुछ लोग यह समझते हैं कि जो हम जानते हैं, जो हम देखते हैं, केवल वही ठीक है और शुद्धि इसी दृष्टि से होगी। वे कहते हैं कि दूसरों के मार्ग से शुद्धि का मार्ग जुदा ही है। पर ऐसा कहने में उन्हें क्या मिलता है ?

९. देखनेवाला केवल नामरूप ही देखेगा, और उसे देखकर उतना ही उसे ज्ञान होगा। वह न्यून अथवा अधिक भले ही देखे, पर विज्ञ जन यह नहीं कहते कि शुद्धि इतने से ही होती है।

१०. अपने कल्पित किये हुए मत को महत्व देनेवाले और हठपूर्वक वाद-विवाद करनेवाले मनुष्य को उपदेश से समझाना या शांत करना कठिन है। जिस मत का वह आश्रय लेता है उसीमें कल्याण है और उसीमें शुद्धि है ऐसा वह कहता है और ऐसा ही मानता है ।

११. किंतु ब्राह्मण की बात तो निराली ही है। वह कभी विकल्प में नहीं पड़ता। वह दृष्टि का आग्रह नहीं रखता। ज्ञान को भी वह महत्व नहीं देता। वह भिन्न-भिन्न मतों को जानता है, और उनके अनुयायी लोगों की उपेक्षा करता है।

१२. इस जगत् में ग्रन्थि का त्याग करके विवादापन्न लोगों के बीच मुनि स्वयं पक्षपाती नहीं होता। वह इस अशान्त लोक

में शांत और उपेक्षक बना रहता है। और जब दूसरे लोग अपने-अपने मत का आग्रह करते हैं, तब वह अनाग्रही रहता है।

१३. तृष्णा, काम, भव, दृष्टि और अविद्या इन पूर्व के आस्रवों (प्रवाहों) को तोड़कर वह नये आस्रवों का संचय नहीं करता। सांप्रदायिक मत-मतांतरों से वह मुक्त हो जाता है, और इस जगत्-पाश में बद्ध नहीं होता।

*

१४. जो सम, अधिक या न्यून समझता है, वही विवाद करता है। तीनों भेदों में जो अचल है, उसकी दृष्टि में सम क्या, अधिक क्या और न्यून क्या? जिसमें सम-विषम नहीं है, वह विवाद करे तो क्या और किसके साथ?

*

१५. सभी लोग इस बात का प्रतिपादन करते है, कि पंथ तो हमारा ही शुद्ध है, दूसरों के पंथों में शुद्धि कहां? जिस पंथ का हमने आश्रय लिया है, उसी पंथ में श्रेय है ऐसा कहनेवाले अपने को भिन्न-भिन्न पंथों में बांध लेते हैं।

१६. वे लोग वाद-विवाद करने के इरादे से सभा में जाकर एक दूसरे को मूर्ख ठहराते हैं। अपनें को शास्त्रार्थ में कुशल समझनेवाले ये लोग वाहवाही लूटने की इच्छा से ही वाद-विवाद करते हैं।

१७. सभा में जब वे शास्त्रार्थ करते हैं, तब प्रशंसा लूटने की इच्छा से दूसरों पर वाणी का प्रहार करने लगते हैं। यदि वाद में वे हार जाते हैं तो मारे शर्म के मुहँ छिपा लेते हैं, और जब उनकी निंदा होती है तो क्रोध में आकर दूसरों के दोष ढूंढ़नें लगते हैं!

१८. वाद-विवाद में पड़कर मनुष्य या तो दूसरों पर आघात कर बैठता है या खुद अपने को ही चोट पहुँचाता है। विवाद में यह विष देखकर उससे निवृत्त हो जाना ही अच्छा है; कारण कि उसमें सिवा एक प्रशंसा के और कोई भी लाभ नहीं।

१९. सभा में कभी-कभी दूसरों के वाद को भंग करके वे प्रशंसा प्राप्त करते हैं, और इससे उन्हें खूब हर्ष होता है। विजय के गर्व में आसमान की तरफ सिर उठाकर चलते हैं! सभा में विजय क्या होतीं है, मानो उनका जीवन कृतकृत्य हो जाता है!

२०. पर उनका यह विजय-गर्व ही अंत में उनके अधःपात का कारण होता है। अतः बुद्धिमान् मनुष्य को वाद-विवाद में पड़ना ही नहीं चाहिए। वाद-विवाद से कुछ अंतःशुद्धि तो होती नहीं; तब फिर अहंकार बढ़ाने से लाभ ?

२१. वाद-विवाद के युद्ध में प्रवृत्त करनेवाला मेरा अहंकार पहले ही नष्ट हो चुका है। अब विवाद करूँ तो कैसे ?

२२. जिन्होंने प्रतिपक्ष-बुद्धि को नष्ट कर दिया है, और जो अपने पंथ की खातिर दूसरे पंथों के साथ विरोधभाव नहीं रखते, और जिन्हें यह प्रतीत नहीं होता कि हमारा ही पंथ सर्वश्रेष्ठ है, उनके पास जाकर, अरे वादी, तुझे क्या मिलने का है ?

*

२३. ये मनुष्य तो अपने-अपने मत से चिपटकर और दूसरों के साथ वाद-विवाद करके अपनें को कुशल कहलाना चाहते हैं! कहते क्या हैं कि जिन्हें हमारे मत का ज्ञान है वेही धर्म के त्राता हैं, और जो हमारे इस मत को बुरा बतलाते हैं, वे कभी मुक्त होने के नहीं!

२४. इस प्रकार झगड़ा-टंटा खड़ा करके ये लोग वाद-विवाद करते हैं, और दूसरों को बेवकूफ बनाते हैं। ये सब अपने को ही कुशल कहनेवाले हैं। इनके मत से फिर कौन-सा वाद सच्चा कहा जाय ?

२५. दूसरों के धर्म को न जाननेवाला मनुष्य यदि मूर्ख, पशु और हीनबुद्धि ठहराया जाय, तो फिर इन सांप्रदायिक मतों से चिपटे रहनेवाले सभी मूर्ख और सभी हीनबुद्धि ठहरेंगे !

२६. ये जो एक दूसरे को मूर्ख कहते हैं यह ठीक नहीं। क्योंकि ये अपने-अपने मत को ही सत्य मानते हैं, और दूसरों को मूर्ख ठहराते हैं।

२७. कुछ लोग जिसे युक्तियुक्त सत्य मानते हैं, उसे ही दूसरे तुच्छ और असत्य बताते हैं, और इस तरह व्यर्थ का टंटा खड़ा करके वाद-विवाद करते हैं। ये सब एक ही सत्य का प्रतिपादन क्यों नहीं करते ?

२८. हमारे ही मत में अत्यंत सार है, इस प्रकार के विचार को आश्रय देकर ये वाद-विवादी लोग अपने को कृतकृत्य मान रहे हैं ! अहंकार में मत्त हो ये पूर्ण अभिमानी बन बैठे हैं। अपने मान से ही अपने को अभिषिक्त कर रहे हैं। यह सब सांप्रदायिकता को कलेजे से लगाने का परिणाम नहीं तो क्या है ?

२९. 'शुद्धि तो इसी पंथ में है,' ऐसा वे प्रतिपादन करते हैं, और कहते हैं कि दूसरे पंथों में शुद्धि नहीं। इस प्रकार अपने ही पंथ को दृढ़ बतलानेवाले ये संप्रदायपंथी भिन्न-भिन्न पंथों में निविष्ट हो रहे हैं !

३०. जो मनुष्य मेरे पंथ से भिन्न मत का प्रतिपादन करते हैं, वे शुद्धि के विरुद्ध जा रहे हैं और वे मुक्त नहीं हो सकते !

यही कारण है कि ये लोग अपने-अपने संप्रदाय के लोभ-पाश म बंधे हुए हैं।

३१. जिस मनुष्यने तमाम रूढ़ मतों को छोड़ दिया है, वह फिर किसी के साथ वाद-विवाद नहीं करता ।

*

३२. अस्थिर मनुष्य ही वाद-विवाद में पड़ता है। निश्चल मनुष्य को क्या पड़ा है कि वह किसी के साथ वाद-विवाद करे? जिसमें न आत्मबुद्धि है न अनात्मबुद्धि, उसके पास सांप्रदायिकता का काम ही क्या? उसने तो अपनी सारी सांप्रदायिकता धोडाली है। फिर वह क्यों और किसके साथ वाद-विवाद करे?

१—१३. सु. नि. (महावियूह सुत्त) १४. बु. च. (मागंदिय सुत्तंत) १५—२२. अट्ठक वग्ग (पसूर सुत्त) २३—३१. सु. नि. (चूल वियूह सुत्त) ३२. सु. नि. (दुट्ठट्ठक सुत्त)

गृहस्थ के कर्त्तव्य

१. जिस आर्यश्रावक (गृहस्थ) को छै दिशाओं की पूजा करनी हो, वह चार कर्मक्लेशों से मुक्त हो जाए। जिन चार कारणों के वश होकर मूढ़ मनुष्य पापकर्म करने में प्रवृत्त होता हैं, उनमें से उसे किसी भी कारण के वश नहीं होना चाहिए। और संपत्ति-नाश के उसे छहो दरवाजे बंद कर देने चाहिए।

२. छै दिशाओं से यहां क्या तात्पर्य है ? माता-पिता को पूर्व दिशा, गुरु को दक्षिण दिशा, पत्नी को पश्चिम दिशा, बंधु-बांधव को उत्तर दिशा, दास और मजदूर को नीचे की दिशा तथा साधु-संत को ऊपर की दिशा समझना चाहिए।

३. चार कर्म-क्लेश क्या हैं ? हिंसा, चोरी, व्यभिचार और असत्यभाषण ये चार कर्म-क्लेश हैं। गृहस्थ को इनसे हमेशा दूर रहना चाहिए।

४. किन चार कारणों के वश होकर मूढ़ जन पापकर्म करते हैं ? स्वेच्छाचार, द्वेष, भय और मोह के कारण अज्ञ जन पाप करते हैं। आर्यश्रावक को इनमें से किसी भी कारण के वश होकर पापकर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

५. संपत्ति-नाश के छै दरवाजे कौन-से हैं ? मद्यपान, रात में आवारागर्दी, नाच-तमाशे का व्यसन, जुआ, दुष्ट मनुष्यों की संगति और आलस्य।

६. मद्यपान के व्यसन से संपत्ति का नाश होता है, इसमें तो संदेह ही नहीं। फिर मद्यपान से कलह बढ़ता है, और वह रोगों का घर तो है ही। इससे अपकीर्ति भी पैदा होती है। यह व्यसन लज्जा को नष्ट और बुद्धि को क्षीण कर देता है। मद्यपान के ये छै दुष्परिणाम हैं।

७. जिसे रात में इधर-उधर घूमने-फिरने का चसका लग जाता है, उसका शरीर स्वयं अरक्षित रहता है। उसकी स्त्री और बाल-बच्चे भी सुरक्षित नहीं रह सकते। वह अपनी संपत्ति नहीं सँभाल सकता। उसे हमेशा यह डर लगा रहता है कि कहीं कोई मुझे पहचान न ले। उसे झूठ बोलने की आदत पड़ जाती है। और वह अनेक कष्टों में फँस जाता है।

८. नाच-तमाशे देखने में भी कई दोष हैं। नाच-तमाशा देखने-वाला हमेशा इसी परेशानी में पड़ा रहता है कि आज कहां नाच है, कहां तमाशा है, कहां गाना-बजाना है। अपने काम-धंधे का उसे स्मरणतक नहीं रहता।

९. जुआरी आदमी जुए में अगर जीत गया, तो दूसरे जुआरी उससे ईर्ष्या करने लगते हैं; और अगर हार गया तो उसे भारी दुःख होता है। और उसके धन का नाश तो होता ही है। उसके मित्र और उसके सगे संबंधी भी उसकी बात पर विश्वास नहीं करते। उनकी ओर से उसे बारबार अपमान सहन करना पड़ता है। उसके साथ कोई नया रिश्ता नहीं जोड़ना चाहता, क्योंकि लोगों को यह लगता है कि यह जुआरी आदमी अपने कुटुंब का पालन-पोषण करने में असमर्थ है।

१०. अब दुष्टों की संगति का दुष्परिणाम सुनो। धूर्त, दारू-खोर, लुच्चे, चोर आदि सभी तरह के नीच मनुष्यों का साथ होने से दिन-प्रतिदिन उसकी स्थिति गिरती ही जाती है, और अन्त में वह हीन-से-हीन दशा को पहुँच जाता है।

११. आलस्य के भी फल महान् भयंकर हैं। एक दिन आलसी आदमी इस कारण काम नहीं करता कि आज बड़ी कड़ाके की सरदी पड़ रही है; और दूसरे दिन बेहद गरमी के कारण वह काम से जी चुराता है! किसी दिन कहता है कि अब तो शाम होगई है, कौन काम करने जाय, और किसी दिन यह कहता है कि अभी तो बहुत सवेरा है, काम का वक्त अभी कहां हुआ? इस तरह आज का काम कल के ऊपर छोड़कर वह कोई नई संपत्ति तो उपार्जन कर नहीं सकता, और अपने पूर्वजों का पूर्वार्जित धन नष्ट करता जाता है।

१२. उपर्युक्त चारों कर्मक्लेशों, चारों पाप-कारणों और छओं विपत्ति-द्वारों का त्याग करने के बाद गृहस्थ को छै दिशाओं की पूजा आरंभ करनी चाहिए। उपर्युक्त प्रत्येक दिशा के पांच-पांच अंग हैं।

१३. माता-पितारूपी पूर्व दिशा की पूजा के ये पांच अंग हैं:—

(१) उनका काम करना;
(२) उनका भरण-पोषण करना;
(३) कुल में चले आये हुए सत्कर्मों को जारी रखना;
(४) माता-पिता की संपत्ति का भागीदार बनना;
(५) दिवंगत माता-पिता के नामपर दान-धर्म करना।

यदि इन पांच अंगों से माता-पिता की पूजा की जाय, तो वे अपने पुत्र पर पांच प्रकार का अनुग्रह करते हैं:—

(१) पाप से उसका निवारण करते हैं;

(२) कल्याणकारक मार्ग पर उसे लेजाते हैं;

(३) उसे कला-कौशल सिखाते हैं;

(४) योग्य स्त्री के साथ उसका विवाह कर देते हैं;

(५) उपयुक्त समय आनेपर अपनी संपत्ति उसे सौंप देते हैं;

१४. गुरुरूपी दक्षिण दिशा की पूजा के ये पांच अंग हैं:—

(१) गुरु को देखते ही खड़ा होजाना;

(२) गुरु बीमार पड़ें तो उनकी सेवा करना;

(३) गुरु जो सिखावें उसे श्रद्धापूर्वक समझ लेना;

(४) गुरु का कोई काम हो तो कर देना;

(५) वह जो विद्या दें उसे उत्तम रीति से ग्रहण करना।

शिष्य यदि इन पांच अंगों से गुरु की पूजा करता है, तो गुरु उसपर पांच प्रकार का अनुग्रह करता है:—

(१) सदाचार की शिक्षा देता है;

(२) उत्तम रीति से विद्या पढ़ाता है;

(३) जितनी भी विद्याएं उसे आती हैं, उन सब का ज्ञान शिष्य को करा देता है;

(४) अपने संबंधियों और मित्रों में उसके गुणों का बखान करता है;

(५) जब कहीं बाहर जाता है, तब ऐसी व्यवस्था कर देता है कि जिससे शिष्य को खानें-पीनें की कोई अड़चन न पड़े।

१५. पत्नी-रूपी पश्चिम दिशा की पूजा के ये पांच अंग हैं:—

(१) उसे मान देना;

(२) उसका अपमान न होने देना;

(३) एक पत्नीव्रत का आचरण करना;

(४) घर का कारबार उसे सौंपना;

(५) उसे वस्त्र और आभूषणों की कमी न पड़ने देना।

पति यदि इन पांच अंगों से पत्नी की पूजा करता है तो वह अपने पति पर पांच प्रकार का अनुग्रह करती है:—

(१) घर में सुंदर व्यवस्था रखती है;

(२) नौकर-चाकरों को प्रेम के साथ रखती है;

(३) पतिव्रता रहती है;

(४) पति उसे जो संपत्ति देता है उसकी रक्षा करती है, उसे उड़ाती नहीं;

(५) घर के सब काम-काजों में सदा तत्पर रहती है।

१६. बंधु-बांधवरूपी उत्तर दिशा की पूजा के ये पांच अंग हैं:—

(१) जो वस्तु देनेयोग्य हो वह उन्हें देना;

(२) उनसे मधुर वचन बोलना;

(३) उनके उपयोगी बनना;

(४) उनके साथ निष्कपट व्यवहार रखना;

(५) समान भाव से बर्ताव करना।

जो आर्यश्रावक इन पांच अंगों से अपने बंधु-बांधवों की पूजा करता है, उस पर वे पांच प्रकार का अनुग्रह करते हैं:—

(१) उस पर यकायक संकट आ पड़ने पर वे उसकी रक्षा करते हैं;

(२) संकट-काल में वे उसकी संपत्ति की भी रक्षा करते हैं;

(३) विपत्ति में उसे धीरज बँधाते हैं;

(४) विपत्काल में उसका त्याग नहीं करते;

(५) उसके बाद उसकी संतान पर भी उपकार करते हैं।

१७. सेवकों को सूचित करनेवाली जो नीचे की दिशा है, उसकी पूजा के पांच अंग ये हैं :—

(१) उनकी शक्ति देखकर उनसे काम करने को कहना;

(२) उन्हें यथोचित वेतन देना;

(३) बीमार पड़ें तो उनकी सेवा-शुश्रूषा करना;

(४) यथावसर उन्हें उत्तम भोजन देना;

(५) समय-समय पर उनकी उत्तम सेवा के बदले उन्हें इनाम इत्यादि देना।

इन पांच अंगों से मालिक अगर नौकरों की पूजा करता है, तो वे अपने मालिक पर पांच प्रकार का अनुग्रह करते हैं :—

(१) मालिक के उठने के पहले वे उठते हैं;

(२) मालिक के सोने के बाद वे सोते हैं;

(३) मालिक के माल-असबाब की चोरी नहीं करते;

(५) उत्तम रीति से काम करते हैं;

(५) अपने मालिक का यश गाते हैं।

१८. साधु-संतों की जो ऊपर की दिशा है, उसकी पूजा के ये पांच अंग हैं :—

(१) शरीर से आदर करना;

(२) वचन से आदर करना;

(३) मन से आदर करना;

(४) भिक्षा के लिए आवें तो उन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुँचाना;

(५) उन्हें उनके उपयोग की वस्तु देना।

इन पांच अंगों से जो आर्य श्रावक साधु-संतों की पूजा करता है, उसपर वे साधु-संत छै प्रकार का अनुग्रह करते हैं:—

(१) पाप से उसका निवारण करते हैं;

(२) कल्याणकारक लार्ग पर उसे ले जाते हैं;

(३) प्रेमपूर्वक उस पर दया करते हैं;

(४) उसे उत्तम धर्म की शिक्षा देते हैं;

(५) शंका-निवारण करके उसके मन का समाधान करते हैं;

(६) उसे सुगति का मार्ग दिखा देते हैं।

१९. दान, प्रिय वचन, अर्थचर्या और समानात्मकता अर्थात् दूसरों को अपने समान समझना, ये लोक-संग्रह के चार साधन हैं। बुद्धिमान् मनुष्य इन चारों साधनों का उपयोग करके जगत् में उच्चपद प्राप्त करता है।

१—१९. बु. व. (सिगालोवाद सुत्त)

चार सहवास

१. सहवास चार प्रकार का होता है :—

(१) शव, शव के साथ वास करता है;

(२) शव देवी के साथ संवास करता है;

(३) देव शव के साथ संवास करता है;

(४) देव, देवी के साथ संवास करता है।

२. जिस घर में पति हिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, शराबी, दु:शील, पापी, कृपण और कटुभाषी होता है; और उसकी पत्नी भी वैसी ही दुष्टा होती है, वहां शव, शव के साथ वास करता है।

३. जिस घर में पति हिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, शराबी, दु:शील, पापी, कृपण और कटुभाषी होता है; और उसकी पत्नी अहिंसक, अचोर, सदाचारिणी, सच्ची, नशा न करनेवाली, सुशीला, पुण्यवती, उदार और मधुरभाषिणी होती है, वहां शव देवी के साथ संवास करता है।

४. जिस घर में पति अहिंसक, अचोर, सदाचारी, सच्चा, मद्य-विरत, सुशील, पुण्यात्मा, उदार और मधुरभाषी होता है; और उसकी पत्नी हिंसक, चोर, दुराचारिणी, झूठी, नशा करने-वाली, दु:शीला, पापिनी, कंजूस और कटुभाषिणी होती है, वहां देव शव के साथ सहवास करता है।

५. जिस घर में पति और उसकी पत्नी दोनों ही अहिंसक, अचौर, सदाचार-रत, नशाविरत, सुशील, पुण्यवंत, उदार और मधुरभाषी होते हैं, वहां देव देवी के साथ सहवास करता है।

१—५. अं. नि. (४ : २ . १ : ३)

मित्र और अमित्र

१. जो मद्यपानादि के समय या आंखों के सामने प्रिय बन-जाता है, वह सच्चा मित्र नहीं। जो काम निकलजाने के बाद भी मित्र बना रहता है वही मित्र है।

२. इन चारों को मित्र के रूप में अमित्र समझना चाहिए :–

(१) दूसरों का धन हरण करनेवाला;

(२) कोरी बातें बनानेवाला;

(३) सदा मीठी-मीठी चाटुकारी करनेवाला;

(४) हानिकारक कामों में सहायता देनेवाला।

३. जो बुरे काम में अनुमति देता है, सामने प्रशंसा करता है, पीठ पीछे निंदा करता है, वह मित्र नहीं, अमित्र है।

४. जो मद्यपान-जैसे प्रमाद के कामों में साथ और आवारा-गर्दी में प्रोत्साहन देता है और कुमार्ग पर ले जाता है वह मित्र नहीं, अमित्र है। ऐसे शत्रुरूपी मित्र को खतरनाक रास्ते की भांति छोड़ देना चाहिए।

५. वास्तविक सुहृद इन चार प्रकार के मित्रों को समझना चाहिए :—

(१) सच्चा उपकारी;

(२) सुख-दुःख में समान साथ देनेवाला;

(३) अर्थप्राप्ति का उपाय बतलानेवाला;

(४) सदा अनुकंपा करनेवाला।

६. जो प्रमत्त, अर्थात् भूल करनेवाले की और उसकी संपत्ति की रक्षा करता है, भयभीत को शरण देता है, और सदा अपनें मित्र का लाभ दृष्टि में रखता है, उसे उपकारी सुहृद समझना चाहिए।

७. जो अपना गुप्त भेद मित्र को बतला देता है, मित्र की गुप्त बात को गुप्त रखता है, विपता में मित्र का साथ देता है, और उसके लिए अपने प्राण भी होम देने को तैयार रहता है, उसे ही सच्चा सुहृद समझना चाहिए।

८. जो पाप का निवारण करता है, पुण्य का प्रवेश कराता है, और सुगति का मार्ग बतलाता है वही 'अर्थ-आख्यायी', अर्थात् अर्थप्राप्ति का उपाय बतानेवाला सच्चा सुहृद है।

९. जो मित्र की बढ़ती देखकर प्रसन्न होता है, मित्र की निंदा करनेवाले को रोकता है, और प्रशंसा करने पर प्रशंसा करता है, वही सच्चा अनुकंपक मित्र है।

ऐसे मित्रों की सत्कारपूर्वक माता-पिता और पुत्र की भांति सेवा करनी चाहिए।

*

१०. जगत् में विचरण करते-करते अपने अनुरूप यदि कोई सत्पुरुष न मिले, तो दृढ़ता के साथ अकेला ही विचरे; मूढ़ के साथ मित्रता नहीं निभ सकती।

*

११. जो छिद्रान्वेषण किया करता है, और मित्रता टूट जाने के भय से सावधानी के साथ बर्तता है, वह मित्र नहीं है।

पिता के कंधे पर बैठकर जिस प्रकार पुत्र विश्वस्त रीति से सोता है उसी प्रकार जिसके साथ विश्वासपूर्वक बर्ताव किया जा सके, और दूसरे लोग जिसे फोड़ न सकें, वही सच्चा मित्र है।

*

१२. अकेला विचरना अच्छा है, किंतु मूर्ख मित्र का सहवास अच्छा नहीं।

*

१३. यदि कोई होशियार, सुमार्ग पर चलनेवाला और धैर्य-वान् साथी मिल जाय, तो तमाम विघ्न-बाधाओं को झेलते हुए भी उसके साथ रहना चाहिए।

१—९. दी. नि. (सिगालोवाद सुत्त) १०. ध. प. (बाल वग्गो) ११. सु. नि. (हिरि सुत्त) १२. बु. च. (पारिलेयक सुत्त) १३. सु. नि. (खग्गविसाण सुत्त)

जाति नैसर्गिक कैसी ?

१. जाति मत पूछ, तू तो बस, एक आचरण पूछ। देख, आग चाहे जैसे काष्ठ से पैदा होती है। इसी प्रकार नीचकुल का मनुष्य भी धृतिमान्, सुविज्ञ और निष्पाप मुनि होता है।

*

२. तो क्या तुम ऐसा मानते हो कि यहां मूर्द्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा विविध जातियों के सौ मनुष्यों को एकत्रित करे और उनसे कहे कि, "आप सब, जो क्षत्रिय-कुल से, ब्राह्मण-कुल से और राजन्य-कुल से उत्पन्न हैं, यहां आवें—और साखू की या शाल वृक्ष की अथवा चन्दन की या पद्मकाष्ठ की अरणी लेकर आग बनावें, तेज पैदा करें—

और, आप लोग भी आवें, जो चाण्डाल-कुल से, निषाद-कुल से, बसोर-कुल से, रथकार-कुल से और पुक्कस-कुल से उत्पन्न हुए हैं, और कुत्ते के पीने की, सूअर के पीने की कठौती (कठरी), धोबी की कठौती की या रेंड की लकड़ी की अरणी लेकर आग बनावें, तेज पैदा करें"—

तो क्या तुम मानते हो कि क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्य-शूद्रकुलों से उत्पन्न पुरुषों-द्वारा साखू-शाल-चन्दन-पद्म की अरणी लेकर जो आग उत्पन्न की गई है, जो तेज पैदा किया गया है, वही अर्चिमान् (लौवाली), वर्णवान् और प्रभास्वर अग्नि होगी ?

और, चाण्डाल-निषाद-बसोर-रथकार-पुक्कस-कुलोत्पन्न पुरुषों-द्वारा श्वपान-कठरी की, शूकर-पान-कठरी की तथा रेंड-काष्ठ की अरणी लेकर जो आग उत्पन्न की गई है, जो तेज पैदा किया गया है, वह अर्चिमान्, वर्णवान् और प्रभास्वर अग्नि न होगी ? क्या उस आग से अग्नि का काम नहीं लिया जा सकेगा ?

*

३. यह तो तुम जानते ही हो कि जीव-जन्तुओं में एक दूसरे से बहुत-सी विभिन्नताएँ और विचित्रताएँ पाई जाती हैं, और उनमें श्रेणियां भी अनेक हैं ।

इसी प्रकार वृक्षों और फलों में भी विविध प्रकार के भेद-प्रभेद देखने में आते हैं, उनकी जातियां भी कई प्रकार की हैं।

देखो न सांप कितनी जातियों के हैं ! जलचरों और नभचरों के भी असंख्य स्थिर भेद हैं, जिनसे उनकी जातियां लोक में भिन्न-भिन्न मानी जाती हैं ।

४. परन्तु मनुष्यों में ? मनुष्यों के शरीर में तो ऐसा कोई भी पृथक् चिह्न (लिंग), भेदक चिह्न कहीं देखने में नहीं आता । उनके केश, सिर, कान, आंख, मुख, नाक, गर्दन, कंधा, पेट, पीठ, हथेली, पैर, नाखून आदि अंगों में कहां हैं वैसी स्थिर विभिन्नताएँ ?

५. जो मनुष्य गाय चराता है उसे हम चरवाहा कहेंगे, ब्राह्मण नहीं ।

६. जो व्यापार करता है वह व्यापारी ही कहलायगा, और शिल्प करनेवाले को हम शिल्पी ही कहेंगे, ब्राह्मण नहीं ।

७. दूसरों की परिचर्या करके जो अपनी जीविका चलाता है, वह परिचर ही कहा जायगा, ब्राह्मण नही ।

८. अस्त्र-शस्त्रों से अपना निर्वाह करनेवाला मनुष्य सैनिक ही कहा जायगा, ब्राह्मण नहीं।

९. अपने कर्म से कोई किसान है तो कोई शिल्पकार। कोई व्यापारी है तो कोई अनुचर। कर्म पर ही यह जगत् स्थित है। अपने कर्म से एक मनुष्य ब्राह्मण बन जाता है और दूसरा अब्राह्मण।

१०. प्राणि-हिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, चुगलखोर, कटु-भाषी, बकवादी, लोभी, द्वेषी और झूठी धारणावाला चाहे ब्राह्मण हो चाहे क्षत्रिय अथवा वैश्य हो या शूद्र, मरने के बाद वह दुर्गति को प्राप्त होगा, नरकगामी होगा।

*

११. क्या केवल ब्राह्मण ही प्राणि-हिंसा, चोरी, दुराचार, झूठ, चुगलखोरी, कटुवचन, बकवाद, लोभ और द्वेष से विरत होकर सुगति को प्राप्त हो सकता है? क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं?

१२. क्या केवल ब्राह्मण ही वैर-रहित और द्वेष-रहित होकर मैत्री की भावना कर सकता है? क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं? नहीं, ऐसी भावना ब्राह्मण भी कर सकता है, क्षत्रिय भी कर सकता है, वैश्य भी कर सकता है और शूद्र भी कर सकता है।

१३. क्या ब्राह्मण ही मांगलिक स्नानचूर्ण लेकर नदी में मैल धो सकता है? क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नहीं?

१४. दो जुड़वां भाई हैं। एक तो अध्ययनशील और उपनीत, किन्तु दुराचारी और पापी है; और दूसरा अन्-अध्ययनशील, अन्-उपनीत, किन्तु शीलवान् और धर्मात्मा है। इनमें से यश अथवा

आतिथ्य में प्रथम भोजन आप किसे करायेंगे ? उसी को ना, जो अन्-अध्ययनशील और अन्-उपनीत होते हुए भी शीलवान् और धर्मात्मा है ?

१५. माता-पिता के रज-वीर्य से जन्म लेनेवाला जीव न क्षत्रिय होता है, न ब्राह्मण—न वैश्य होता है, न शूद्र ।

*

१६. उच्चकुलवाला भी प्राणि-हिंसक, चोर, मिथ्याचारी, झूठा, चुगलखोर, कटुभाषी, बकवादी, लोभी और द्वेषी होता है। इसलिए मैं उच्चकुलीनता को श्रेय नहीं देता । साथ ही, उच्च-कुलीनता को मैं 'पापीय' भी नहीं कहता, क्योंकि उच्चकुलवाला मनुष्य भी अहिंसक, अचौर, मिथ्याचार-विरत, अद्वेषी आदि होता है ।

१७. नीचकुलोत्पन्न भी, इसी तरह, हिंसक होता है और अहिंसक भी; सच्चा होता है और झूठा भी; लोभी होता है और लोभ-विरत भी; द्वेषी होता है और अद्वेषी भी ।

*

१८. जिस आश्रय को लेकर आग जलती है, वही उसकी संज्ञा होती है। काष्ठ से जलनेवाली आग की संज्ञा काष्ठ-अग्नि, और गोमय (उपले) के आश्रय से जलनेवाली आग की संज्ञा गोमय-अग्नि होती है। किन्तु आग का काम इन सभी अग्नियों से लिया जा सकता है ।

*

१९. यवन और कम्बोज तथा दूसरे भी सीमान्त प्रदेशों में दो ही वर्ण होते हैं—आर्य और दास । मनुष्य वहां आर्य से दास

हो सकता है, और दास से आर्य। फिर इसका कोई अर्थ नहीं, कि अमुक वर्ण ही जन्मना श्रेष्ठ वर्ण है।

*

२०. जो मनुष्य जातिवाद और गोत्रवाद के बन्धन में बँधे हुए हैं, वे अनुपम विद्याचरण सम्पदा से दूर ही हैं।

*

१. बु. च. (अत्तदीप सुत्त). २. म. नि. (अस्सलायण सुत्तन्त) ३—१०. म. नि. (वासेट्ठ सुत्तन्त) ११—१५. म. नि. (अस्सलायण सुत्तन्त) १६—१८. म. नि. (फासुकारि सुत्तन्त) १९. म. नि. (अस्सलायण सुत्तन्त) २०. बु. च. (अम्बट्ठ सुत्त)

ब्राह्मण किसे कहें ?

१. ब्राह्मण मैं उसे कहता हूँ, जो अपरिग्रही है। जिसने समस्त बंधन काटकर फेक दिये हैं, जो भय-विमुक्त हो गया है और जो संग एवं आसक्ति से विरत है, मैं उसीको ब्राह्मण कहता हूँ।

२. जो बिना चित्त बिगाड़े गाली, हनन और बंधन को सहन करता है, क्षमा-बल ही जिसके साधन-सैनिकों का सेनानी है, मैं उसीको ब्राह्मण कहता हूँ।

३. जो अक्रोधी है, व्रती है, शीलवान् है, बहुश्रुत है, संयमी है और अंतिम शरीरवाला है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

४. कमल के पत्ते पर जल की भांति, और आरे की नोक पर सरसों की तरह जो विषय-भोगों में लिप्त नहीं होता, मैं उसे ही ब्राह्मण कहता हूँ।

५. चर-अचर सभी प्राणियों में प्रहार-विरत हो जो न मारता है न मारने की प्रेरणा करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

६. जो इस प्रकार की अकर्कश, आदरयुक्त और सत्यवाणी बोलता है कि जिससे जरा भी पीड़ा नहीं पहुँचती, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ।

७. बड़ी हो चाहे छोटी, मोटी हो चाहे पतली, शुभ हो या अशुभ जो संसार में किसी भी बिना दी हुई चीज को नहीं लेता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

८. जिसने यहां पुण्य और पाप दोनों की ही आसक्ति छोड़ दी है, और जो शोकरहित, निर्मल और परिशुद्ध है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

९. मानुष भोगों का लाभ छोड़ दिव्य भोगों के लाभ को भी जिसने लात मार दी है, किसी भी लाभ-लोभ में जो आसक्त नहीं, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१०. राग और घृणा का जिसनें त्याग कर दिया है, जिसका स्वभाव शीतल है, और जो क्लेशरहित है ऐसे सर्वलोकविजयी वीर पुरुष को मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

११. जिसके पूर्व, पश्चात् और मध्य में कुछ नहीं है, और जो पूर्णतया परिग्रह-रहित है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

*

१२. जो ध्यानी, निर्मल, स्थिर, कृतकृत्य और आस्रव-(चित्तमल) रहित है, जिसने सत्य को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१३. जो न मन से पाप करता है, न वचन से और न काया से; मन, वचन और काया पर जिसका संयम है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१४. न जटा रखाने से कोई ब्राह्मण होता है, न अमुक गोत्र से, और न जन्म से ही। जिसने सत्य और धर्म का साक्षात्कार कर लिया, वही पवित्र है, वही ब्राह्मण है।

१५. जो गंभीर प्रज्ञावाला है, मेधावी है, मार्ग और अमार्ग का ज्ञाता है, और जिसने सत्य पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१६. जिसने तृष्णा का क्षय कर दिया है, जो भली भांति जानकर अकथ पद का कहनेवाला है, और जिसने अगाध अमृत प्राप्त कर लिया है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

१७. जो पूर्वजन्म को जानता है, सुगति और अगति को जो देखता है, और जिसका पुनर्जन्म क्षीण हो गया है, तथा जो अभिज्ञा-(दिव्यज्ञान) परायण है, उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

*

१८. मूर्खों की धारणा में यह चिरकाल से घुसा हुआ है कि 'ब्राह्मण जन्म से होता है'; ज्ञानी पुरुष यह कदापि नहीं कहेंगे कि ब्राह्मण जन्म से होता है।

१९. अमुक माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण मैं किसी मनुष्य को ब्राह्मण नहीं कहता।

२०. जो पुरोहिताई से अपनी जीविका चलाता है वह ब्राह्मण नहीं, याचक है।

*

२१. ब्राह्मण पर प्रहार नहीं करना चाहिए, और ब्राह्मण को भी उस प्रहारक पर कोप नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण पर जो प्रहार करता है उसे धिक्कार है। और उसे भी धिक्कार है, जो उसके लिए कोप करता है।

*

२२. प्राचीन ब्राह्मणों के पास न पशु थे, न सुवर्ण, न धान्य। उनके पास तो एक स्वाध्याय का ही धन-धान्य था। वे तो ब्रह्मनिधि के धनी थे।

२३. वे संयतात्मा और तपस्वी होते थे। विषय-भोगों को छोड़कर वे सदा ज्ञान और ध्यान में ही निरत रहते थे।

२४. विविध वर्ण के वस्त्रों, शैयाओं और अतिथिशालाओं से समृद्ध राष्ट्र उन ब्राह्मणों को अभिवंदन करते थे।

२५. ब्राह्मण अवध्य थे, अजेय थे और धर्म से अभिरक्षित थे।

२६. प्राचीन काल के वे ब्राह्मण अड़तालीस वर्षतक अखंड कौमार ब्रह्मचर्य पालत करते थे।

२७. उस युग के ब्राह्मण विद्या और आचरण की शोध में रहते थे।

२८. वे लोग ब्रह्मचर्य, शील, अकुटिलता, मृदुता, तपस्या, सुप्रीति, अहिंसा, और क्षमा के प्रशंसक थे।

*

२९. ब्राह्मण कौन ? जो निष्पाप है, निर्मल है, निरभिमान है, संयत है, वेदांतपारंगत है, ब्रह्मचारी है, ब्रह्मवादी है और धर्मप्राण है, वही ब्राह्मण है।

*

३०. जिसने सारे पाप अपने अंतःकरण से दूर कर दिये, अहंकार की मलिनता जिसकी अंतरात्मा का स्पर्श भी नहीं कर सकती, जिसका ब्रह्मचर्य परिपूर्ण है, जिसे इस लोक के किसी भी विषय की तृष्णा नहीं, जिसने अपनी अंतर्दृष्टि से ज्ञान का अंत देख लिया, वही अपने को यथार्थरीति से ब्राह्मण कह सकता है।

१—११ म. नि. (वासेट्ठ सुत्तन्त) १२—१७ ध. प. (ब्राह्मण वग्गो) १८—२०. म. नि. (वासेट्ठ सुत्तन्त) २१. ध. प. (ब्राह्मण वग्गो) २२—२८. बु. च. (ब्राह्मण धम्मिय सुत्त) २९. वि. पि. (महावग्ग) ३०. वि. पि. (महावग्ग)

चांडाल कौन ?

१. क्रोधी, वैर माननेवाला, पापी, गुणीजनों को दोष देनेवाला, मिथ्या दृष्टि रखनेंवाला और मायावी मनुष्य ही वृषल, अर्थात् चांडाल है।

२. जो प्राणियों का वध करता है, प्राणियों के ऊपर जो दयाभाव नहीं रखता, उसे चांडाल समझना चाहिए।

३. जो गांवों और नगरों को लूटता और वीरान कर देता है, दुनिया में जो लुटेरे के नाम से पहिचाना जाता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

४. जो मनुष्य कर्ज तो लेता है, पर जब लेनदार मांगने आता है तो साफ नट जाता है और कहता है कि मुझे तो तेरा कुछ देना ही नहीं, उसे चांडाल समझना चाहिए।

५. जो अपने लिए, दूसरों के लिए अथवा पैसे के लिए झूठ बोलता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

६. जो बलात्कार से अथवा प्रेम से अपने इष्टमित्रों की स्त्रियों के साथ व्यभिचार करता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

७. जो समर्थ होते हुए भी अपने वृद्ध माता-पिता का पालन-पोषण नहीं करता, उसे चांडाल समझना चाहिए।

८. लाभ का हितकर उपाय पूछने पर जो हानिकारक उपाय सुझाता है, अथवा संदिग्ध वचन बोलता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

९. जो दूसरों के घर जाकर उनका आतिथ्य स्वीकार करता है, पर यदि वे लोग कभी उसके घर आ जायँ, तो वह उनका आदर-सत्कार नहीं करता, ऐसा मनुष्य चाण्डाल नहीं तो क्या है?

१०. जो अहंभाव के कारण पतित होकर आत्मस्तुति और परनिंदा करता है, उसे चांडाल समझना चाहिए।

११. जो मनुष्य क्रोधी, कृपण, मत्सरयुक्त, शठ और निर्लज्ज होता है और जिसे लोकनिंदा के भय की तनिक भी पर्वा नहीं, उसे चांडाल समझना चाहिए।

१२. जो अनर्ह (अयोग्य) होकर भी अपने को योग्य समझता है, वह ब्रह्मलोक में चोर है, और ऐसे पुरुष को वृषलाधम (नीचातिनीच चांडाल) कहते हैं।

१३. केवल जन्म से कोई वृषल या चांडाल नहीं होता, और न जन्म से कोई ब्राह्मण ही होता है। कर्म से मनुष्य चांडाल होता है, और कर्म से ही ब्राह्मण।

१—१३. सु. नि. (वसलसुत्त)

भिक्षु

१. जिस भिक्षुने शंकाओं का प्रवाह पार कर लिया है, जिसने तृष्णा का शल्य निकालकर फेंक दिया है, निर्वाण में जिसकी लौ लगी हुई है, जो निर्लोभी है और सदेवक जगत् का नेता है, उसे **मार्गजिन** भिक्षु कहते हैं।

२. निर्वाण-पद को जानकर जो धर्मोपदेश तथा धर्म का विवेचन करता है, उस शंका-निवारक मुनि को **मार्गदेशक** भिक्षु कहते हैं।

२. उत्तम रीति से उपदिष्ट धर्ममार्ग में जो संयमी है, स्मृतिमान् है और निर्दोष पदार्थों का सेवन करता है, उसे **मार्गजीवी** भिक्षु कहते हैं।

४. साधुओं का वेश धारण करके संघ में जबर्दस्ती घुस जानेवाला जो धृष्ट भिक्षु गृहस्थों की अपकीर्त्ति फैलाता है और जो मायावी, असंयमी तथा ढोंगी होते हुए भी साधु के रूप में दुनिया को ठगता फिरता है, उसे **मार्गदूषक** भिक्षु कहते हैं।

*

५. संघ में यदि कोई गृहासक्त, पापेच्छ, पाप-संकल्पी और पापाचारी भिक्षु देखने में आवे, तो तुम सब मिलकर उसका बहिष्कार करदो; उस कचरे को फेंकदो, संघ के उस सड़े हुए हिस्से को छील डालो।

*

६. काया और वचन से जो शान्त है, भलीभांति जो समाहित अर्थात् समाधियुक्त है, जिसने जगत् के तमाम लोभों को अस्वीकार कर दिया है, उस भिक्षु को 'उपशान्त' भिक्षु कहते हैं ।

*

७. जो भिक्षु अपनी तरुणाई में बुद्ध के शासन (बुद्ध-धर्म) में योग देता है, वह इस लोक को इस प्रकार प्रकाशित करता है, जैसे मेघों से मुक्त चन्द्रमा ।

*

८. अतिशय प्रमोदयुक्त और बुद्ध-शासन में प्रसन्नचित्त भिक्षु उस सुखमय प्रशान्त पद को प्राप्त कर लेता है, जिसमें मनुष्य की समस्त वासनाएँ शान्त हो जाती हैं ।

*

९. जो धर्म में रमण करता है, धर्म में रत रहता है, और धर्म का चिन्तन और धर्म का अनुसरण करता है, वह भिक्षु सद्धर्म से पतित नहीं होता ।

*

१०. जो भिक्षु मैत्री भावना से विहार करता है और बुद्ध के शासन (धर्म) में श्रद्धावान् रहता है, वह सुखमय शान्तपद को प्राप्त कर लेता है, उसकी समस्त वासाएँ समाप्त हो जाती हैं ।

*

११. भिक्षु को अपनी निन्दा सुनकर अस्वस्थ और स्तुति सुनकर गर्वोन्मत्त नहीं होना चाहिए । लोभ, मात्सर्य, क्रोध और निन्दा का उसे सदा के लिए परित्याग कर देना चाहिए ।

१.—४. सु. नि. (चुन्द सुत्त) ५. सु. नि. (धम्मचरिय सुत्त) ६—१०. ध. प. (भिक्खुवग्गो) ११. सु. नि. (तुवट्टक सुत्त)

सम्यक् परिव्राजक

१. जो लौकिक एवं दिव्य कामसुख में आसक्त नहीं, वही धर्मज्ञ भिक्षु संसार का अतिक्रमण करके सम्यक् परिव्राजक हो सकता है।

२. जो भिक्षु निन्दा, क्रोध और कृपणता का त्याग कर देता है, वह अनुरोध-विरोध से मुक्त होकर इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक कहा जाता है।

३. प्रिय और अप्रिय का त्याग करके जो सर्वत्र अनासक्त, अनाश्रित तथा संयोजनों से विमुक्त है वही इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है।

४. उपाधि को जो निस्सार समझता है और ग्रहण करने में जो लोभ (छन्दराग) का निरसन करता है, इस जगत् में वही सम्यक् परिव्राजक है।

५. भलीभांति धर्म का तत्व समझकर जो मन, वचन और कर्म से दूसरों के साथ अविरोध रीति से बर्ताव करता है, जो निर्वाण-पद की इच्छा रखता है, उसीको मैं इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक कहूंगा।

६. लोभ और आसक्ति को छोड़कर जो छेदन-बन्धन से विरत हो गया है, शंकाओं को पार कर गया है, और जिसके हृदय से तृष्णा का शल्य निकल गया है, वही भिक्षु इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है।

७. अपना कर्तव्य धर्म समझकर जो भिक्षु किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता, वही इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है ।

८. जिसके आस्रव (दोष) क्षीण तथा अहंकार नष्ट हो गया है, जो कामसुखों को लात मारकर संसार-समुद्र को पार कर गया है और जो दान्त, शान्त और स्थिरात्मा है, वही इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है ।

९. जो अतीत और अनागत संस्कारों की कल्पना को पार कर गया है, जिसकी प्रज्ञा अत्यन्त विशुद्ध है और जो समस्त आयतनों से मुक्त हो गया है वही इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है ।

*

१०. 'आर्यसत्यों' को जानकर और धर्म को समझकर तथा आस्रवों का विनाश स्पष्टतापूर्वक देखकर जो समस्त उपाधियों का क्षय कर देता है, वही इस जगत् में सम्यक् परिव्राजक है ।

*

११. ऊपर, नीचे और चारों ओर अथवा मध्य में जो भी दुःखकारक कर्म है, उसे त्यागकर जो विचारपूर्वक वर्तता है, जिसने माया, मान, क्रोध और नामरूप को नष्ट कर दिया है उस पूर्णत्वप्राप्त पुरुष को सम्यक् परिव्राजक कहते हैं ।

१—१०. सु. नि. (सम्मा परिब्बाजनिय सुत्त) ११. सु. नि. (सभिय सुत्त)

प्रश्नोत्तरी

१. प्रश्न—(१) जूठन क्या है ?
(२) दुर्गन्ध क्या है ?
(३) मक्खियां क्या हैं ?

उत्तर—(१) लोभ और राग जूठन है।
(२) द्रोह दुर्गन्ध है।
(३) अकुशल वितर्क, अर्थात् बुरे विचार मक्खियां हैं।

*

२. प्रश्न—(१) जगत् का संयोजन क्या है ?
(२) उसकी विचारणा (चिंता) क्या है ?
(३) किस धर्म के नाश से उसे निर्वाण प्राप्त होता है ?

उत्तर—(१) लोभ या तृष्णा जगत् का संयोजन है।
(२) वितर्क उसकी विचारणा है।
(३) तृष्णा के नाश से जगत् को निर्वाण प्राप्त होता है ?

*

३. प्रश्न—किस प्रकार के बर्ताव से मनुष्य के विज्ञान (चित्त की धारा) का निरोध होता है ?

उत्तर—आंतरिक और बाह्य वेदनाओं का अभिनंदन न करते हुए जो बर्तता है, उसका विज्ञान निरुद्ध हो जाता है।

*

४. प्रश्न—(१) यह जगत् किससे ढंका हुआ है ?
(२) किसके कारण यह प्रकाशित नहीं होता ?
(३) इसका अभिलेपन क्या है ?
(४) इसे महाभय क्या है ?

उत्तर—(१) यह जगत् अविद्या से ढँका हुआ है।
(२) मात्सर्य और प्रमाद के कारण यह प्रकाशित नहीं होता।
(३) वासना इसका अभिलेपन ह।
(४) जन्मादि दुःख इसका महाभय है।

५. प्रश्न—(१) चारों ओर जो ये प्रवाह बह रहे हैं, इनका निवारक क्या है ?
(२) प्रवाहों का नियमन क्या है ?
(३) ये प्रवाह किस वस्तु से रोके जा सकते हैं ?

उत्तर—(१) जगत् में जो ये प्रवाह बह रहे हैं उनकी निवारक स्मृति है।
(२) स्मृति ही उन प्रवाहों की नियामक है।
(३) प्रज्ञा से वे रोके जा सकते हैं।

६. प्रश्न—'प्रज्ञा' और 'स्मृति' इन नामरूपों का निरोध कहां होता है ?

उत्तर—नाम और रूप का पूर्णतः निरोध विज्ञान के निरोध से होता है।

७. प्रश्न—संसार की तरफ मनुष्य किस प्रकार देखे, कि जिससे मृत्युराज उसकी ओर न देख सके ?

उत्तर—सदैव स्मृति रखते हुए इस तरह देख कि जगत् शून्य है। इस भांति आत्मदृष्टि को त्याग देनेवाला मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है। इस प्रकार संसार की तरफ देखनेवाले मनुष्य की ओर मृत्युराज नहीं देखता।

*

८. प्रश्न—जो कामोपभोगों से विमुक्त है, तृष्णा से रहित है, और संशयों को पार कर गया है, उसका मोक्ष किस प्रकार का होता है ?

उत्तर—जो कामोपभोगों से विमुक्त है, तृष्णा से रहित है और संशयों से पार होगया है, उसके लिए मोक्ष-जैसा कोई पदार्थ रहता ही नहीं। (वही उसका मोक्ष है।)

९. प्रश्न—(१) वह वासना-रहित होता है, या उसकी कोई वासना बाकी रहती है ?

(२) वह प्रज्ञावान् होता है, या प्रज्ञा की कल्पना करनेंवाला ?

उत्तर—(१) वह वासना-रहित होता है, उसकी कोई वासना शेष नहीं रहती।

(२) वह प्रज्ञावान् होता है, प्रज्ञा की कल्पना करनेवाला नहीं। वह मुनि सर्वथा कामभव में अनासक्त और अकिंचन होता है।

*

१०. प्रश्न—महान् भयानक बाढ़ के बीचोबीच संसार के मध्यभाग में खड़े हुए जरा-मृत्युपरायण मनुष्य के लिए कौन-सा द्वीप शरणस्थान है ?

उत्तर—आकिंचन्य और अनादान (ग्रहण न करना) ही उसके लिए महान् विशाल द्वीप है, जिसे में जरा और मृत्यु का क्षय करनें-वाला 'निर्वाण' कहता हूं।

यह जानकर जो स्मृतिमान् लोग इसी जन्म में परिनिर्वाण प्राप्त कर लेते हैं, वे मार (विषय) के वश नहीं होते, वे मार का अनुसरण नहीं करते।

*

११. प्रश्न—इस जगत् में लोग अनेकों को मुनि कहते हैं, पर क्या उनका यह कहना ठीक है ? वे ज्ञानसंपन्न पुरुष को मुनि कहते हैं या केवल व्रतादि उपजीविका-संपन्न को ?

उत्तर—दृष्टि से, श्रुति से अथवा ज्ञान से कोई मुनि नहीं होता, ऐसा पंडितजन कहते हैं। मन के समस्त विरोधों का नाश करके जो निर्दुःख और निस्तृष्ण होकर रहता है उसे ही मैं मुनि कहता हूँ।

१२. प्रश्न—(१) इस जगत् में किसे संतुष्ट कहना चाहिए ?
(२) तृष्णाएँ किसे नहीं हैं ?
(३) कौन दोनों अंतों को जानकर मध्य में स्थित हो प्रज्ञा से लिप्त नहीं होता ?
(४) 'महापुरुष' किसे कहते हैं ?
(५) इस जगत् में कौन तृष्णा को पार करता है ?

उत्तर—(१) जो कामोपभोगों का परित्याग करके ब्रह्मचारी, वीततृष्ण और सदैव स्मृतिमान् रहता है, उसे ही संतुष्ट कहना चाहिए।

(२) उसे ही तृष्णाएँ नहीं सतातीं।

(३) वह दोनों अंतों को जानकर मध्य में स्थित हो प्रज्ञा से लिप्त नहीं होता।

(४) उसे ही मैं 'महापुरुष' कहता हूँ।

(५) इस जगत् में वही महापुरुष तृष्णा-तरंगिणी को पार कर सकता है।

१३. प्रश्न—इस जगत् में जो ये अनेक तरह के दुःख दिखाई देते हैं, वे कहां से उत्पन्न होते हैं?

उत्तर—ये दुःख उपाधियों से उत्पन्न होते हैं। जो अविद्वान् मंदबुद्धि मनुष्य उपाधियां करते हैं वे बारंबार दुःख भोगते हैं। अतएव दुःख का उत्पत्ति-कारण जाननेवाले बुद्धिमान् मनुष्य को उपाधि नहीं करनी चाहिए।

१४. प्रश्न—बुद्धिमान् मनुष्य किस तरह ओघ (भवसागर) जन्म, जरा, शोक, परिदेव और दुःख को पार करते हैं?

उत्तर—ऊपर, नीचे, चारों ओर और मध्य में जो कुछ भी दिखाई देता है, उसमें से तृष्णा, दृष्टि और विज्ञान (चित्तधारा) को हटा देनेवाला पुरुष संसार पर आश्रय नहीं रखता।

इस प्रचार चलनेवाला स्मृतिवान्, अप्रमत्त और विद्वान् भिक्षु ममत्व को छोड़कर इसी लोक में जन्म, जरा, शोक, परिदेव और दुःख का त्याग कर देता है।

जो ब्राह्मण वेदपारग, अकिंचन और कामभव में अनासक्त होगा, वही इस संसार-सागर को विश्वासपूर्वक पार कर सकेगा।

इस जगत् में वही विद्वान् और वेदपारग मनुष्य है, वही भव और अभव में आसक्ति का त्याग कर सकता है, वही निस्तृष्ण, निर्दुःख और वासना-रहित है, और वही जन्म, जरा और मृत्यु को पार कर सकता है।

*

१५. प्रश्न—किस हेतु से प्रेरित हो ऋषि, क्षत्रिय, ब्राह्मण और अन्य मनुष्य इस जगत् में देवताओं को उद्देश करके भिन्न-भिन्न यज्ञ करते हैं ?

उत्तर—ये सब इसलिए भिन्न-भिन्न यज्ञ करते हैं कि उनका पुनर्जन्म हो और बारवार जरा और मृत्यु के ग्रास बनें।

१६. प्रश्न—यज्ञकर्म में अप्रमादी रहकर क्या ये लोग जन्म और जरा को पार कर सकते हैं ?

उत्तर—ये लोग देवताओं की प्रार्थना करते हैं, स्तुति करते हैं, आशा प्रगट करते हैं, हवन करते हैं, और अपने लाभ के लिए कामसुख की याचना करते हैं। यज्ञ में फँसे हुए ये भवलोभासक्त मनुष्य जन्म और जरा को कदापि पार नहीं कर सकते ?

१७. प्रश्न—तो फिर देवलोक और नरलोक में कौन मनुष्य जन्म और जरा को पार कर सकता है ?

उत्तर—दुनिया की छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं को प्रज्ञा से जानकर जिस मनुष्यने अपनी तमाम तृष्णाएँ नष्ट करदी हैं, जो शान्त, वीतधूम, रागादि-विरत और आशा-रहित है, वही जन्म और जरा को पार कर सकता है।

१८. प्रश्न—राग और दोष कहां से उत्पन्न होते हैं ? आरति, रति और हर्ष कहां से पैदा होते हैं ?

मन में वितर्क कहां से होता है, जिससे यह मन उस पतंग के समान मँड़राता रहता है, जिसे बालक इधर-उधर उड़ाया करते हैं ?

उत्तर—यही आत्मा राग और दोष का निदान है। इसीसे अरति, रति और हर्ष उत्पन्न होते हैं। इसीसे मन में वितर्क उत्पन्न होता है। यह उस पतंग के समान है जिसे अबोध बालक इधर-उधर उड़ाया करते हैं। ये राग आदि स्नेह से आत्मा में न्यग्रोध (बरगद) के स्कन्ध के समान उत्पन्न होते हैं और कामों में बारबार 'मालू' नामक लता की भांति लपटते रहते हैं।

जो इनका निदान जानते हैं, वे आनन्द-लाभ करते हैं; और इस संसार-समुद्र को, जो अत्यन्त दुस्तर है, पार करके निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं, और उनका पुनर्जन्म नहीं होता।

*

१९. प्रश्न—(१) श्रेष्ठ धन कौन-सा है ?
(२) सुचिर सुख देनेवाला कौन है ;
(३) जगत् में अत्यन्त स्वादिष्ट कौन पदार्थ है ?
(४) किस प्रकार का जीवन व्यतीत करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष है ?

उत्तर—(१) श्रद्धा ही श्रेष्ठ धन है।
(२) धर्म ही सुचिर सुख देनेवाला है।
(३) सत्य ही संसार में अत्यन्त स्वादिष्ट पदार्थ है।

(४) प्रज्ञा से जीवन-निर्वाह करनेवाला पुरुष ही संसार में श्रेष्ठ है।

२०. प्रश्न—(१) ओघ को कैसे पार कर सकते हैं?

(२) मृत्यु-महोदधि के उस पार किसके सहारे जा सकते हैं?

(३) दु:ख का अन्त किससे कर सकते हैं?

(४) परिशुद्धि किससे होती है?

उत्तर—(१) श्रद्धा से ओघ को पार कर सकते हैं।

(२) अप्रमाद के सहारे मृत्यु महोदधि के उस पार जा सकते हैं।

(३) वीर्य (उद्योग) से दु:ख का अन्त हो सकता है।

(४) और, प्रज्ञा से परिशुद्धि प्राप्त हो सकती है।

२१. प्रश्न—(१) प्रज्ञा किससे प्राप्त होती है?

(२) धन किससे मिलता है?

(३) कीर्ति किससे प्राप्त होती है?

(४) किस प्रकार इस लोक से परलोक पहुँचकर मनुष्य शोक नहीं करता?

उत्तर—(१) श्रद्धावान् प्रमाद-विरहित कुशल पुरुष निर्वाण की प्राप्ति के लिए आर्हत धर्म की परिसेवा (उपासना) से प्रज्ञा प्राप्त करता है।

(२) प्रत्युपकारी सहनशील पुरुष अप्रमाद के द्वारा विपुल धन प्राप्त करता है।

(३) सत्य से वह कीर्त्ति-लाभ करता है।

(४) जिस गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग ये चार धर्म होते हैं, वही इस लोक से परलोक में जाकर शोक नहीं करता।

*

२२. प्रश्न—(१) किन गुणों के प्राप्त करने से मनुष्य **भिक्षु** होता है?

(२) भिक्षु **सुशान्त** कैसे होता है?

(३) **दान्त** किसे कहते हैं?

(४) **बुद्ध** के क्या लक्षण हैं?

उत्तर—(१) जो स्वयं अपने तैयार किये हुए मार्ग पर परिनिर्वाण प्राप्त करता है, जिसे कोई शंका नहीं रहती, जो शाश्वत दृष्टि और उच्छेद-दृष्टि का त्याग करके कृतकृत्य हो जाता है और पुनर्जन्म का क्षय कर देता है, वही **भिक्षु** है।

(२) जो हर जगह उपेक्षायुक्त और स्मृतिमान् होकर इस अखिल जगत् में किसी की भी हिंसा नहीं करता, जो उत्तीर्ण और विमुक्त हो गया है, और जिसमें न राग रहा है न द्वेष, वही **सुशान्त** है।

(३) इस अखिल जगत् में जिसकी इंद्रियां बाहर से तथा भीतर से वश में होगई हैं, और जो भावितात्मा पुरुष उत्तम लोकों

को जानकर मृत्यु की प्रतीक्षा करता है, वही दांत है।

(४) समस्त विकल्प, संसार तथा जन्म-मरण को जानकर और विगतरज, निष्पाप एवं विशुद्ध होकर जो जन्मक्षय का लाभ करता है, उसे **बुद्ध** कहते हैं।

*

२३. प्रश्न—(१) मनुष्य किन गुणों की प्राप्ति से **ब्राह्मण** होता है?

(२) मनुष्य **श्रमण** कैसे होता है?

(३) **स्नातक** के क्या लक्षण हैं?

(४) **नाग** किसे कहते हैं?

उत्तर—(१) जो मनुष्य समस्त पापों को हृदय से निकाल बाहर कर देता है, जो विमल, समाहित और स्थितात्मा होकर संसार-सागर को लांघ जाता है, जो 'केवली' और अनाश्रित होता है, उसे **ब्राह्मण** कहते हैं।

(२) पुण्य और पाप को त्यागकर जो पुरुष शांत हो गया है, इहलोक और परलोक दोनों को जानकर जो विगतरज हो गया है, और जो जन्म तथा मरण के उस पार चला गया है, उसे **श्रमण** कहते हैं।

(३) जो समस्त जगत् में बाहर और भीतर से तमाम पापों को पखारकर विकल्पबद्ध

देवताओं और मनुष्यों के बीच विकल्प को प्राप्त नहीं होता, उसे **स्नातक** कहते हैं।

(४) जो इस जगत् में एक भी पाप नहीं करता, और जो सभी संयोगों और बंधनों को तोड़कर कहीं भी बद्ध नहीं होता, उस पुरुष को इन गुणों के कारण **'नाग'** कहते हैं।

*

२४. प्रश्न—(१) **क्षेत्रजिन** किसे कहते हैं ?

(२) मनुष्य **कुशल** कैसे होता है ?

(३) **पंडित** के क्या लक्षण हैं ?

(४) **मुनि** किसे कहते हैं ?

उत्तर—(१) दिव्य, मानवी और ब्रह्मक्षेत्र—इन तीनों क्षेत्रों को जानकर जो तीनों के मूल बंधन से मुक्त हो गया है, उसे **क्षेत्रजिन** कहते हैं।

(२) दिव्य, मानवी और ब्रह्मकोश—इन तीनों कोशों को जानकर जो तीनों के बंधन से मुक्त हो गया है, उसे **कुशल** कहते हैं।

(३) आध्यात्मिक (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन) और बाह्य आयतनों (रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श, धर्म) को जानकर जो विशुद्धप्रज्ञ मनुष्य पाप और पुण्य के उस पार चला गया है उसे **पंडित** कहते हैं।

(४) अखिल लोक में अध्यात्मविषयक और बाह्यविषयक तथा साधुओं और असाधुओं का धर्म जानकर जो आसक्ति के उस पार चला गया है, उसे **मुनि** कहते हैं। उसकी पूजा मनुष्य क्या देवता भी करते हैं।

*

२५. प्रश्न—(१) किन गुणों की प्राप्ति से मनुष्य **वेदपारग** कहलाता है ?

(२) मनुष्य **अनुविदित** कैसे होता है ?

(३) **वीर्यवान्** के क्या लक्षण हैं ?

(४) मनुष्य **आजन्य** कैसे होता है ?

उत्तर—(१) श्रमण और ब्राह्मणों के जितने वेद हैं उन सब को जानकर और उन्हें पार करके जो समस्त वेदनाओं के विषय में वीतराग हो जाता है, वह **वेदपारग** है।

(२) भीतर और बाहर से रोगों का मूल यह संसार और नामरूप है, अतः सर्व रोगों के मूल बंधन से जो मुक्त हो जाता है उसे **अनुविदित** कहते हैं।

(३) जो इस लोक में समस्त पापों से विरत हो गया और जिसने निरय-दुःख को पार कर लिया है, वह **वीर्यवान्** हैं; इन गुणों के कारण ही उसे **वीर्यवान्**, **प्रधानवान्** (प्रयत्नवान्) और **धीर** कहते हैं।

(४) भीतर और बाहर के समस्त संगकारणों को तोड़कर जो सभी प्रकार की आसक्ति के बंधन से मुक्त हो गया है उसे, इन गुणों के कारण, आजन्य कहते हैं।

*

२६. प्रश्न—(१) किन गुणों को प्राप्त करके मनुष्य **श्रोत्रिय** होता है?

(२) मनुष्य **आर्य** किन गुणों से होता है?

(३) मनुष्य **आचरणवान्** कैसे होता है?

(४) परिव्राजक किसे कहते हैं?

उत्तर—(१) जितने भी निंदित और अनिंदित धर्म हैं उन सब को सुनकर और जानकर जो मनुष्य उनपर विजय प्राप्त करके निःशंक, विमुक्त और सर्वथा निर्दुःख हो जाता है, उसे **श्रोत्रिय** कहते हैं।

(२) जो विद्वान् मनुष्य आस्रवों और आलयों का उच्छेद करके गर्भवास की जड़ काट डालता है, और जो त्रिविध (काम, रूप और अरूप) पंकमय संज्ञा को लांघकर विकल्प को प्राप्त नहीं होता, वह **आर्य** है।

(३) जिसने आचरण में पूर्णत्व प्राप्त कर लिया है, जिसे कुशल धर्मों का पूर्णज्ञान है, और जो कहीं भी बद्ध नहीं होता, जो विमुक्त है और जिसमें प्रत्याघात-

बुद्धि का सर्वथा अभाव है, वह आचरण-
वान् है ।

(४) ऊपर, नीचे और चारों ओर अथवा मध्य में जितने भी दुःखकारक कर्म हैं, उन्हें त्यागकर जो विचारपूर्वक बर्तता है, जिसने माया, मान, क्रोध और नामरूप को नष्ट कर दिया है उस पूर्णत्वप्राप्त पुरुष को **परिव्राजक** कहते हैं ।

*

२७. प्रश्न—कलह और विवाद तथा परिदेव, शोक और मत्सर कहां से उत्पन्न होते है ? और अहंकार, अतिमान, तथा कलंक का उत्पत्ति-स्थान क्या है ?

उत्तर—कलह और विवाद तथा परिदेव, शोक और मत्सर एवं अहंकार, अतिमान तथा कलंक का उत्पत्ति-स्थान प्रियवस्तुएँ हैं।

२८. प्रश्न—(१) इस जगत् में वस्तुएँ प्रिय कैसे होती हैं ?
(२) यह लोभ किससे पैदा होता है ?
(३) लोगों के लड़ाई-झगड़ों की जड़ यह आशा और निष्ठा किससे उत्पन्न होती है ?

उत्तर—(१) इस जगत् में राग (छंद) के कारण वस्तुएँ प्रिय होती है ।
(२) राग की ही बदौलत यह लोभ पैदा होता है ।
(३) यह राग ही तमाम लड़ाई-झगड़ों की जड़ आशा और निष्ठा का जनक है ।

२९. प्रश्न—(१) जगत् में राग कहां से पैदा होता है ?

(२) योजनाएँ कहां से उत्पन्न होती हैं ?

(३) क्रोध, लुच्चाई, कुशंका और दूसरे दोष कहां से पैदा होते हैं ?

उत्तर—(१) जगत् में जिन्हें सुख और दुःख कहते हैं उन्हींसे राग पैदा होता है।

(२) रूपों में हानि और लाभ देखकर जगत् में यह मनुष्य योजनाएँ बनाया करता है।

(३) क्रोध, लुच्चाई, कुशंका और दूसरे दोष भी सुख-दुःख के ही कारण उत्पन्न होते हैं।

३०. प्रश्न—(१) सुख और दुःख होने का क्या कारण है?

(२) किन वस्तुओं के नष्ट होजाने से सुख-दुःख उत्पन्न नहीं होते ?

(३) लाभ और हानि का उत्पत्ति-स्थान क्या है ?

उत्तर—(१) सुख और दुःख का कारण स्पर्श है। स्पर्श से ही ये सुख-दुःख पैदा होते हैं ?

(३) स्पर्श न हो तो ये भी पैदा न हों।

(४) लाभ और हानि का भी उत्पत्ति-स्थान यह स्पर्श ही है।

३१. प्रश्न—(१) जगत् में स्पर्श कहां से पैदा होता है ?

(२) परिग्रह किससे उत्पन्न होता है ?

(३) और, किसके नाश से यह स्पर्श उत्पन्न नहीं होता ?

उत्तर—(१) नाम और रूप के आश्रय से स्पर्श पैदा होता है।

(२) इच्छा के कारण परिग्रह उत्पन्न होता है। इच्छा यदि नष्ट हो जाय, तो फिर ममत्व न रहे।

(३) रूप-विचार नष्ट हो जाने से स्पर्श उत्पन्न नहीं होता।

३२. प्रश्न—(१) रूप-विचार किन गुणों से युक्त होने से नष्ट होता है?

(२) सुख और दुःख का नाशक क्या है?

(३) इनका कैसे नाश होता है?

उत्तर—इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है। जो संज्ञा* का विचार नहीं करता, अथवा असंज्ञा का भी विचार नहीं करता, जो असंज्ञी भी नहीं, और रूप-संज्ञी भी नहीं, उसका रूपविचार नष्ट हो जाता है। कारण यह है कि प्रपंच की कल्पना इस संज्ञा से ही पैदा होती है।

३३. प्रश्न—(१) मुनि के क्या लक्षण हैं?

(२) केवली किसे कहते हैं?

(३) मनुष्य बुद्ध कैसे होता है?

उत्तर—(१) जो पूर्वजन्मों को तथा स्वर्ग और नरक को जानता है, जिसका जन्मक्षय हो गया

---

* इन्द्रिय और विषय के एकसाथ मिलने पर, अनुकूल-प्रतिकूल वेदना के बाद 'यह अमुक विषय है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है उसे संज्ञा कहते हैं।

है, और जो अभिज्ञा-तत्पर है, वही मुनि है।

(२) रागों से जो सर्वथा मुक्त है, जो चित्त की विशुद्धि को जानता है, जिसका जन्म-मरण नष्ट और ब्रह्मचर्य पूर्ण हो गया है, उसे केवली कहते हैं।

(३) जिसने समस्त धर्मों को पार कर लिया है, उसे बुद्ध कहते हैं।

१. अं. नि. (३: ३: ६) २—१७. सु. नि. (पारायण वग्ग) १८—१९. बुद्धदेव (ना. प्र. का.) २०—२१. सु. नि. २२—२६. सु. नि. (सभियसुत्त) २७—३२. सु. नि. (कलहविवाद सुत्त) ३३. म. नि. (ब्रह्मायु सुत्तंत)

अंतिम उपदेश

१. भिक्षुओ ! जहांतक तुम लोग बारबार एकत्र होकर संघ का कार्य करते रहोगे, जबतक तुम में ऐक्य रहेगा, ऐक्य से तुम संघ के सब कृत्य करते रहोगे, जहांतक संघ के किसी नियम का भंग नहीं करोगे, जहांतक तुम अपने संघ के वृद्ध भिक्षुओं को मान देते रहोगे, जहांतक तुम अपनी तृष्णा की अधीनता स्वीकार न करोगे, जहांतक तुम एकान्तवास में आनंद मानोगे, और जबतक तुम इस बात की चिंता रखोगे कि तुम्हारे सब साथी सुखी रहें, तबतक तुम्हारी उत्तरोत्तर उन्नति ही होती जायगी, अवनति नहीं।

२. भिक्षुओ ! अभ्युन्नति के ये सात नियम मैं बनाये देता हूँ, इन्हें ध्यानपूर्वक सुनो :—

(१) गृहसंबंधी निजी काम में आनंद न मानना;
(२) व्यर्थ का बकवाद करने में आनंद न मानना;
(३) निद्रा में समय बिताने में आनंद न मानना;
(४) भीड़भाड़ पसंद करनेवाले भिक्षुओं के साथ समय बिताने में आनंद न मानना;
(५) दुर्वासनाओं के वश न होना;
(६) दुष्टों की संगति में न पड़ना;
(७) समाधि में अल्प सफलता पाकर उसे बीच में ही न छोड़ देना।

३. भिक्षुओ ! अभ्युन्नति के और भी सात नियम कहता हूँ, उन्हें सुनो :—

(१) श्रद्धालु बने रहना;

(२) पाप-कर्म से लजाते रहना;

(३) लोकपवाद का भय रखना;

(४) विद्या का संचय करना;

(५) सत्कर्म करने में उत्साह रखना;

(६) स्मृति को जाग्रत बनाये रखना;

(७) प्रज्ञावान् रहना।

*

४. शीलभ्रष्ट मनुष्य की पांच प्रकार से हानि होती है :—

(१) दुराचरण से उसकी संपत्ति का नाश होता है;

(२) उसकी अपकीर्ति फैलती है;

(३) किसी भी सभा में उसका प्रभाव नहीं पड़ता;

(४) शांति से वह मृत्यु नहीं पाता;

(५) मरने के बाद वह दुर्गति को प्राप्त होता है।

५. सदाचारी मनुष्य को, उसके सदाचरण के कारण, यह पांच प्रकार का लाभ होता है :—

(१) सदाचरण से उसकी संपत्ति की वृद्धि होती है;

(२) लोक में उसकी कीर्ति बढ़ती है;

(३) हरेक सभा में उसका प्रभाव पड़ता है;

(४) शांति से वह मृत्यु पाता है;

(५) मरने के बाद वह सुगति को प्राप्त होता है।

*

६. अब तुम लोग अपने को ही अपना अवलंबन बनाओ। इस संसार-समुद्र में अपने मन को ही द्वीप बनाओ, धर्म को अपना द्वीप बनाओ। अपनी ही आत्मा की शरण में जाओ, और धर्म की शरण में जाओ।

जो पुरुष मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा इन चार स्मृत्यु-पस्थानों की भावना करता है, वह अपने लिए आत्मद्वीप बना लेता है, धर्मद्वीप बना लेता है। यही आत्मशरण है, यही धर्म-शरण है।

*

७. भिक्षुओ! तुम्हारा ब्रह्मचर्य चिरस्थायी रहे, और यदि तुम्हें ऐसा अनुभव होता हो, कि तुम्हारे उस ब्रह्मचर्य के द्वारा बहुत-से लोगों का कल्याण हो, बहुत-से लोगों को सुख मिले, तो मेरे सिखाये हुए 'कुशल धर्म' का सम्यक् रीति से अध्ययन और उसकी शुद्ध भावना करो।

*

८. जो मनुष्य मेरे उपदेश के अनुसार सावधानी के साथ धर्म का आचरण करेगा, वह पुनर्जन्म से छुटकारा पा जायगा, उसका दु:ख नष्ट हो जायगा।

*

९. मेरे परिनिर्वाण के पश्चात् मेरे शरीर की पूजा करने की माथापच्ची में न पड़ना। मैंने तुम्हें जो सन्मार्ग बताया है, उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करना।

*

१०. तुम्हारे मन में यह विचार आसकता है कि बुद्ध के देहा-वसान के बाद हमारा कोई शास्ता (शासनकर्त्ता) नहीं रहा; पर

मेरे न रहने के बाद मैंने तुम्हें जिस धर्म और विनय की शिक्षा दी है, वही तुम्हारा शास्ता होगा।

*

११. मैं तुमसे कहता हूँ कि संस्कार अर्थात् कृतवस्तु नाशवान् है, अतः सावधानी के साथ जीवन के लक्ष्य का संपादन करो।

१—११. दी. नि. (महापरिनिब्बाण सुत्त)

सूक्ति-कण

सूक्ति-कण

१. दूसरे की त्रुटियों या कृत्य और अकृत्य की खोज में न रहो। तुम तो अपनी ही त्रुटियों और कृत्य-अकृत्यों पर विचार करो।

*

२. उस काम का करना अच्छा नहीं, जिसे करके पीछे पछताना पड़े, और जिसका फल रोते-बिलखते भोगना पड़े।

*

३. उसी काम का करना ठीक है, जिसे करके पीछे पछताना न पड़े, और जिसका फल मनुष्य प्रसन्नचित्त से ग्रहण करे।

*

४. पाप-कर्म दूध की तरह तुरंत नहीं जम जाता; वह तो भस्म से ढंकी हुई आग की तरह थोड़ा-थोड़ा जलकर मूढ़ मनुष्य का पीछा करता है।

*

५. जैसे महान् पर्वत हवा के झकोरों से विकंपित नहीं होता, वैसे ही बुद्धिमान् लोग किसी की निंदा और स्तुति से विचलित नहीं होते।

*

६. वही पुरुष शीलवान्, बुद्धिमान् और धार्मिक है, जो न अपने लिए और न दूसरे के लिए पुत्र, धन आदि की इच्छा करता है और जो अधर्म से अपनी समृद्धि नहीं चाहता।

*

७. सहस्रों अनर्थक वाक्यों से वह एक सार्थक पद श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शांति प्राप्त होती है।

सहस्रों अनर्थक गाथाओं से वह एक सार्थक गाथा श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शांति प्राप्त होती है।

*

८. जो अभिवादनशील और सदा वृद्धों की सेवा करनेवाले हैं, उनके ये चारों धर्म बढ़ते हैं—आयु, वर्ण, सुख और बल।

*

९. एक दिन का सदाचारयुक्त और ज्ञानपूर्वक जीना सौ वर्ष के शीलरहित और असमाहित जीवन से अच्छा है।

*

१०. यह समझकर पाप की अवहेलना न करे कि 'वह मेरे पास नहीं आयेगा।' एक-एक बूंद पानी से घड़ा भर जाता है। इसी तरह मूर्ख मनुष्य अगर थोड़ा-थोड़ा भी पाप संचय करता है, तो वह एक दिन पाप-समुद्र में डूब जाता है।

*

११. जो शुद्ध, पवित्र और निर्दोष पुरुष को दोष लगाता है, उस मूर्ख को उसका पाप लौटकर लगता है, जैसे वायु के रुख फेंकी हुई धूल अपने ही ऊपर आ पड़ती है।

*

१२. मनुष्य स्वयं ही अपना स्वामी है; दूसरा उसका स्वामी या सहायक हो सकता है ? अपने को जिसने भलीभाँति दमन कर लिया, वह सहज ही एक दुर्लभ सहायक प्राप्त कर लेता है।

*

१३. अनुचित और अहितकर कर्मों का करना आसान है। हितकर और शुभ कर्म परम दुष्कर हैं।

*

१४. जो पहले प्रमाद में था, और अब प्रमाद से निकल गया, वह इस लोक को मेघ-माला से उन्मुक्त चन्द्रमा की भांति प्रकाशित करता है।

*

१५. जो अपने किये हुए पापों को पुण्य से ढँक देता है, वह इस लोक को इस प्रकार प्रकाशित करता है, जैसे बादलों से उन्मुक्त चन्द्रमा।

*

१६. जिसने धर्म छोड़ दिया है, जो झूठ बोलता है, और परलोक का मजाक उड़ाता है, उसके लिए कोई भी पाप अकरणीय नहीं।

*

१७. श्रेष्ठ पुरुष का पाना कठिन है। वह हर जगह जन्म नहीं लेता। धन्य है वह सुख-सम्पन्न कुल, जहां ऐसा धीर पुरुष उत्पन्न होता है।

*

१८. विजय से वैर पैदा होता है; पराजित पुरुष दुखी होता है। जो जय और पराजय को छोड़ देता है, वही सुख की नींद सोता है।

*

१९. राग के समान कोई आग नहीं; द्वेष के समान कोई पाप नहीं। पंचस्कंधों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) के समान कोई दुःख नहीं, और शांति के समान कोई सुख नहीं।

*

२०. भूख सब से बड़ा रोग है; शरीर सब से बड़ा दुःख है---इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। यथार्थ में, निर्वाण ही परमसुख है।

*

२१. आरोग्य परमलाभ है। संतोष परमधन है। विश्वास परमबंधु है। और निर्वाण परमसुख है।

*

२२. सत्पुरुषों का दर्शन अच्छा है। संतों के साथ रहना सदा सुखकारक है। मूर्खों के अदर्शन (अलग रहने) से मनुष्य सचमुच सुखी रहता है।

*

२३. मूर्खों की संगति में रहनेवाला मनुष्य चिरकालतक शोक-निमग्न रहता है। मूर्खों की संगति शत्रुओं की संगति की तरह सदा ही दुःखदायक होती है। और धीर पुरुषों का सहवास अपने बंधु-बांधवों के समागम के समान सुखदायी होता है।

*

२४. सच बोलना, क्रोध न करना और याचक को यथेच्छ दान देना—इन तीन बातों से मनुष्य देवताओं के निकट स्थान पाता है।

*

२५. यह पुरानी बात है, कुछ आज की नहीं कि, जो नहीं बोलता उसकी भी लोग निंदा करते हैं, और जो बहुत बोलता है उसे भी दोष लगाते हैं ! इसी तरह मितभाषी की भी निंदा करते हैं। संसार में ऐसा कोई नहीं, जिसकी लोग निंदा न करें। बिल्कुल ही निंदित या बिल्कुल ही प्रशंसित पुरुष न कभी हुआ, न होगा, और न आजकल है।

*

२६. काया के कोप से बच; काया पर दमन कर; काया के दुश्चरित को छोड़, काया के सुचरित का आचरण कर।

*

२७. वाणी के कोप से बच; वाणी को संयत रख; वाणी के दुश्चरित को छोड़, वाणी के सुचरित का आचरण कर।

*

२८. मन के कोप से बच; मन को वश में कर; मन के दुश्चरित को छोड़, मन के सुचरित का आचरण कर।

*

२९. राग के समान कोई आग नहीं; द्वेष के समान कोई अरिष्ट ग्रह नहीं; मोह के समान कोई जाल नहीं, और तृष्णा के समान कोई नदी नहीं।

*

३०. जैसे, सुनार चांदी के मैल को दूर कर देता है, उसी तरह बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह अपने मलों (पापों) को प्रतिक्षण थोड़ा-थोड़ा दूर करता रहे।

*

३१. यह लोहे का मोरचा ही है जो लोहे को खा जाता ह। इसी प्रकार पापी के पाप-कर्म ही उसे दुर्गति को पहुँचाते हैं।

*

३२. उपासना का मोरचा अनभ्यास है। मकान का मोरचा उसकी बेमरम्मती है। शरीर का मोरचा आलस्य है, और संरक्षक का मोरचा प्रमाद है।

*

३३. जो प्राणियों की हिंसा करता है, जो झूठ बोलता है, जो संसार में न दी हुई चीज को उठा लेता है अर्थात् चोरी करता है, जो पराई स्त्री के साथ सहवास करता है, जो शराब पीता है, वह मनुष्य इस लोक में अपनी जड़ आप ही खोदता है।

*

३४. दूसरे का दोष देखना आसान है, किन्तु अपना दोष देखना मुश्किल है। लोग दूसरों के दोषों को भुस के समान फटकते फिरते हैं, किंतु अपने दोषों को इस तरह छिपाते हैं जैसे चतुर जुआरी हरानेवाले पासे को छिपा लेता है।

*

३५. जो दूसरों के दोषों को ही सदा देखा करता है, और हमेशा हाय-हाय करता रहता है, उसकी वासनाएँ बढ़ती ही जाती हैं, और वह उनका नाश नहीं कर सकता।

*

३६. बहुत बोलने से कोई पंडित नहीं होता। जो क्षमाशील, वैर-रहित और अभय होता है वही पंडित कहा जाता है।

*

३७. वह धर्मधर नहीं जो बहुत बोलता है। वही धर्मधर है, और वही धर्मविषयों में अप्रमादी है, जो पढा चाहे थोड़ा हो पर धर्म का ठीक-ठीक आचरण करता है।

*

३८. यदि किसी के सिर के बाल पक जायें, तो इससे वह स्थविर या बड़ा नहीं हो जाता। उसकी उम्र भले ही पक गई हो किंतु वह व्यर्थ ही वृद्ध कहा जाता है।

*

३९. बड़ा असल में वही है, जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम है, जो मल से रहित और धीर है।

*

४०. जो पुरुष ईर्ष्यालु, मात्सर्ययुक्त और शठ है, वह बहुत बोलने या सुंदर रंगरूप के कारण साधु नहीं हो सकता।

*

४१. साधु वही है, जिसके दोष जड़मूल से नष्ट हो गये हैं। जो विगतदोष और मेधावी है, वही साधु है।

*

४२. अनियमित और मिथ्याभाषी मनुष्य मूंड़ मुंडानेमात्र से ही भिक्षु नहीं हो जाता। क्या ऐसा मनुष्य भिक्षु हो सकता है जो वासना और लोभ से युक्त हो?

*

४३. वही असल में भिक्षु है, जिसने छोटे-बड़े सब पाप त्याग दिये हैं। जिसके पाप शमित होगये हैं, वही श्रमण कहा जाता है।

*

४४. भिक्षा मांगनेमात्र से कोई भिक्षु नहीं होता। भिक्षु वही होता है, जो धर्मानुकूल आचरण करता है।

*

४५. जो पाप और पुण्य से ऊँचा उठकर ब्रह्मचारी बन गया है, जो लोक में धर्म के साथ विचरता है, उसीको भिक्षु कहना चाहिए।

*

४६. अज्ञानी और मूढ़ मनुष्य केवल मौन रहने से मुनि नहीं हो जाता। वही मनुष्य मुनि है, जो तराजू की तरह ठीकठीक जांच करके सुव्रतों का ग्रहण और पापों का त्याग करता है। जो दोनों लोकों का मनन करता है वही सच्चा मुनि है।

*

४७. जो प्राणियों की हिंसा करता है वह आर्य नहीं। समस्त प्राणियों के साथ जो अहिंसा का बर्ताव करता है वही आर्य है।

*

४८. यदि थोड़ा सुख छोड़ देने से विपुल सुख मिलता हो तो बुद्धिमान् पुरुष विपुल सुख का खयाल करके उस थोड़े से सुख को छोड़ दे।

*

४९. दूसरे को दुःख देकर जो अपना सुख चाहता है, वह वैर के जाल में फँसकर उससे छूट नहीं सकता।

*

५०. ऐसे ही उन्मत्त और प्रमत्त लोगों के आस्रव (चित्त के मल) बढ़ते हैं, जो कर्तव्य को छोड़ देते हैं और अकर्तव्य को करते हैं।

*

५१. जो नित्य शरीर की अनित्य गति को विचारते हैं, जो अकर्तव्य से दूर रहते और कर्तव्य कृत्य को करते हैं, उन ज्ञानी सत्पुरुषों के आस्रव अस्त हो जाते हैं।

*

५२- श्रद्धावान्, शीलवान्, यशस्वी और धनी पुरुष जिस-जिस देश में जाता है, वहां वह पूजा जाता है।

*

५३. हिमालय के धवल शिखरों के समान संतजन दूर से ही प्रकाशते हैं। और, असंत लोग इस तरह अदृष्ट रहते हैं, जैसे रात में छोड़ा हुआ वाण।

*

५४. काषाय वस्त्र पहननेवाले बहुत-से पापी और असंयमी मिलेंगे। ये सब अपने पाप-कर्म के द्वार से नरकलोक को जायँगे।

*

५५. असंयमी और दुराचारी मनुष्य राष्ट्र का अन्न व्यर्थ खावे इससे तो आग में गरम किया हुआ लोहे का लाल गोला खा जाय वह अच्छा।

*

५६. परस्त्रीगमन करने से अपुण्य-लाभ, बुरी गति, भय और थोड़ी देर का सुख, यही मिलता है। इसलिए मनुष्य को परस्त्रीगमन नहीं करना चाहिए।

*

५७. जैसे असावधानी से पकड़ा हुआ कुश हाथ को काट

देता है, उसी तरह असावधानी के साथ संन्यास ग्रहण करने से नरक की प्राप्ति होती है।

*

५८. दुष्कृत (पाप) का न करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि दुष्कृत करनेवाले को पीछे पछताना पड़ता है। सुकृत का करना ही श्रेष्ठ है, जिससे मनुष्य को अनुताप न करना पड़े।

*

५९. मुनि को गांव में इस तरह विचरना चाहिए, जिस तरह भौंरा फूल के रंग और सुगंध को न बिगाड़ता हुआ उसके रस को लेकर चल देता है।

*

६०. कोई भी सुगंध चाहे वह चंदन की हो चाहे तगर की या चमेली की, वायु से उलटी ओर नहीं जाती। किंतु सत्पुरुषों की सुगंध वायु से उलटी ओर भी जाती है। सत्पुरुषों की सुगंध सभी दिशाओं को सुवासित करती है।

*

६१. चंदन या तगर, कमल या जूही इन सब की सुगंध से सदाचार की सुगंध श्रेष्ठ है।

*

६२. तगर और चंदन की जो गंध है वह अल्पमात्र है, और जो यह सदाचारियों की उत्तम गंध है, वह देवताओं तक पहुँचती है।

*

६३. चाहे कितनी ही धर्म-संहिताओं का पाठ करे, किंतु प्रमादी मनुष्य उन संहिताओं के अनुसार आचरण करनेवाला

नहीं होता, अतः वह श्रमण अर्थात् साधु नहीं हो सकता। वह तो उस ग्वाले के सम्मान है जो दूसरों की गायों को गिनता रहता है।

*

६४. जो पुरुष राग-द्वेषादि कषायों (मलों) को बिना छोड़े ही काषाय (गेरुआ) वस्त्र धारण कर लेता है, और जिसमें न संयम है न सत्य, वह काषाय वस्त्र धारण करने का अधिकारी नहीं।

*

६५. जिसने कषायों (मलों) का त्याग कर दिया है, जो सदाचारी, संयमी और सत्यवान् है वही काषाय वस्त्र धारण कर सकता है।

*

६६. जिस प्रकार कलछी दाल-तरकारी के स्वाद को नहीं समझ सकती, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य सारी जिंदगी पंडितों की सेवा में रहकर भी धर्म और ज्ञान का रस प्राप्त नहीं कर सकता।

*

६७. जिस प्रकार जीभ दाल-तरकारी को चखते ही स्वाद पहचान लेती है, उसी प्रकार विज्ञपुरुष पंडितों की सेवा में मुहूर्त मात्र रहकर भी धर्म और ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

*

६८. जबतक पाप का परिपाक नहीं होता, तभीतक मूर्ख मनुष्य को वह मधु-सा मीठा लगता है। किन्तु जब पाप-कर्म के फल लगने लगते हैं, तब उस मूर्ख को भारी क्लेश होता है।

*

६९. जिनके पास कोई मालमता नहीं, जो संचय करना नहीं जानते, जिनका भोजन नियत है, जिन्हें जगत् शून्यता-स्वरूप दिखाई देता है, और जिन्होंने निर्वाणपद प्राप्त कर लिया है, उनकी गति उसी प्रकार मालूम नहीं हो सकती, जिस प्रकार कि आकाश में पक्षियों की गति।

*

७०. सौ वर्ष के आलसी और हीनवीर्य जीवन की अपेक्षा एक दिन का दृढ़ कर्मण्यता का जीवन कहीं अच्छा है।

*

७१. न आकाश में, न समुद्र में, न पर्वतों की खोह में कोई ऐसा ठौर है, जहां पापी प्राणी अपने किये हुए पापकर्मों से त्राण पा सके।

*

७२. बुढ़ापेतक सदाचार का पालन करना सुखकर है। स्थिर श्रद्धा सुखकर है। प्रज्ञा का लाभ सुखकर है। और पापकर्मों का न करना सुखकर है।

*

७३. जिसने हाथ, पैर और वाणी को संयम में रखा है, वही सर्वोत्तम संयमी है। मैं उसीको भिक्षु कहता हूँ, जिसकी अंतरात्मा आनंद-रत है, जो संयत है, एकांतसेवी है और संतुष्ट है।

*

७४. जिस भिक्षु की वाणी अपने वश में है, और जो थोड़ा बोलता है, जो उद्धत नहीं है, और धर्म को प्रकाश में लाता है, उसीका भाषण मधुर होता है।

*

७५. न तो अपने लाभ का तिरस्कार करे, और न दूसरों के लाभ की स्पृहा।

*

७६. इस नामरूपात्मक जगत् में जिसे बिल्कुल ही ममता नहीं, और जो किसी वस्तु के न मिलने पर उसके लिए शोक नहीं करता, वही सच्चा भिक्षु है।

*

७७. ध्यान में रत रहो, प्रमाद मत करो। तुम्हारा चित्त भोगों के चक्कर में न पड़े। प्रमाद के कारण तुम्हें लोहे का लाल-लाल गोला न निगलना पड़े। और दुःख की आग से जलते समय तुम्हें यह कहकर क्रन्दन न करना पड़े कि 'हाय यह दुःख है'।

*

७८. जैसे जूही की लता कुम्हलाये हुए फूलों का त्याग कर देती है, वैसे ही तुम राग और द्वेष को छोड़ दो।

*

७९. अपने को अपने आप उठा, अपनी आप परीक्षा कर। इस प्रकार तू अपनी आप रक्षा करता हुआ विचारशील हो सुख-पूर्वक इस लोक में विहार करेगा।

*

८०. मनुष्य आप ही अपना स्वामी है, अपनी गति अपनेतक ही है। इसलिए तू अपने को संयम में रख, जैसे वनिया अपने घोड़े को अपने काबू में रखता है।

*

८१. धर्मपूर्वक माता-पिता का भरण-पोषण करे, धर्मपूर्वक व्यवहार और वाणिज्य करे। गृहस्थों को इस प्रकार आलस्य और प्रमाद छोड़कर अपना धर्म-पालन करना चाहिए।

*

८२. दुःख का समूल नाश करने के लिए ब्रह्मचर्य का व्रत-पालन अत्यंत आवश्यक है।

*

८३. हंस, क्रौंच, मोर, हाथी और मृग ये सभी पशु-पक्षी सिंह से भय खाते हैं। कौन शरीर में बड़ा है और कौन शरीर में छोटा, यह तुलना करना व्यर्थ है।

इसी प्रकार मनुष्यों में भी बौने शरीर का होते हुए भी यदि कोई प्रज्ञावान् है, तो वही वास्तव में बड़ा है। भारी भरकम शरीर के होते हुए भी मूर्ख मनुष्य को हम बड़ा नहीं कह सकते।

*

८४. संसर्ग होने से स्नेह उत्पन्न होता है। स्नेह से दुःख होता है। यह स्नेह ही दोष है, ऐसा समझकर गेंड़ा के सींग की तरह एकाकी ही रहना चाहिए।

*

८५. देख, यह आसक्ति है; इसमें सुख थोड़ा है, आस्वाद कम है, और दुःख अधिक है। सावधान! यह मछली फँसाने का आंकड़ा है।

*

८६. जैसे कोई मनुष्य किसी प्रचंड धार की नदी में उतरकर तैर न सकने के कारण बह जाता है और दूसरों को पार नहीं

उतार सकता; वैसे ही जिस मनुष्यने धर्मज्ञान का संपादन नहीं किया, और विद्वानों के मुख से अर्थपूर्ण वचन नहीं सुने, जो स्वयं ही अज्ञान और संशय में डूबा हुआ है, वह दूसरों का किस प्रकार समाधान कर सकता है ?

८७. समाधान तो वह ज्ञानी पुरुष ही कर सकता है, जो विद्वान्, संयतात्मा, बहुश्रुत तथा अप्रकंप्य होता है, और जिसनें श्रोतावधान के द्वारा निर्वाणज्ञान का संपादन किया है।

*

८८. तू तो निष्काम निर्वाण का चिंतन कर और यह अहंकार की वासना छोड़ दे। अहंकार का त्याग करने पर ही तुझे सुचिर शांति मिलेगी।

*

८९. जो निंदनीय मनुष्य की प्रशंसा अथवा प्रशंसनीय पुरुष की निंदा करता है, वह अपने ही मुख से अपनी हानि करता है, और इस हानि के कारण उसे सुख प्राप्त नहीं होता।

*

९०. जुए में धन गँवाने से जो हानि होती है वह कम है, किंतु सत्पुरुषों के सम्बन्ध में अपना मन कलुषित करना तो सर्वस्व-हानि से भी बढ़कर आत्महानि है।

*

९१. मूर्ख मनुष्य दुर्वचन बोलकर खुद ही अपना नाश करते हैं।

*

९२. जो छिछला या छिछोरा होता है वही ज्यादा आवाज करता है, पर जो गंभीर होता है, वह शांत रहता है। मूर्ख अधभरे

घड़े की तरह शोर मचाते हैं, पर प्रज्ञावान् गंभीर मनुष्य सरोवर की भांति सदा शांत रहते हैं।

*

९३. जो संयतात्मा पुरुष सब कुछ जानते हुए भी बोलते नहीं हैं, वे ही मुनि मौनव्रत के योग्य हैं।

*

९४. यह अविद्या ही महान् मोह है, जिसके कारण मनुष्य चिरकाल से संसार में पड़ा है। किंतु जो विद्यालाभी प्राणी होता है, वह बारबार जन्म नहीं लेता।

*

९५. जो भी दुःख पैदा होता है, वह सब संस्कारों से ही पैदा होता है, संस्कारों के निरोध से दुःख की उत्पत्ति असंभव होजाती है।

*

९६. इस सारे प्रपंच का मूल अहंकार है। इसका जड़मूल से नाश कर देना चाहिए। अहंकार के समूल नाश से ही अंतःकरण में रमनेवाली तृष्णाओं का अंत हो सकता है।

*

९७. 'अनात्मा में आत्मा है,' ऐसा माननेवाले और नामरूप के बंधन में पड़े हुए इन मूढ़ मनुष्यों की ओर तो देखो! वे यह समझते हैं कि 'यही सत्य है!'

९८. वे जिस-जिस प्रकार की कल्पना करते हैं उससे वह वस्तु भिन्न ही प्रकार की होती है, और उनकी कल्पना झूठी ठहरती है; क्योंकि जो क्षणभंगुर होता है वह नश्वर तो है ही।

९९. पर आर्य लोग मानते हैं कि निर्वाण ही अविनश्वर है और वही सत्य है; और वे सत्यज्ञान के बलपर तृष्णारहित होकर निर्वाण-लाभ करते हैं।

*

१००. जिस प्रकार सांप के फन से हम अपना पैर दूर रखते हैं, उसी प्रकार जो कामोपभोग से दूर रहता है वह स्मृतिमान् पुरुष इस विषभरी तृष्णा का त्याग करके निर्वाण-पथ की ओर अग्रसर होता है।

*

१०१. वासना ही जिसका उद्देश हो, और संसारीसुखों के बंधन में जो पड़ा हुआ हो, उसे छुड़ाना कठिन है; क्योंकि जो आगे या पीछे की आशा रखता है, और अतीत या वर्तमान काल के कामोपभोग में लुब्ध रहता है, उसे कौन छुड़ा सकता है ?

*

१०२. सोने-चांदी-के लाखों-करोड़ों सिक्कों को मैं श्रेष्ठ धन नहीं कहता। उसमें तो भय-ही-भय है—राजा का, अग्नि का, जल का, चोर का, लुटेरे का और अपने सगे संबंधियोंतक का भय है।

१०३. श्रेष्ठ और अचंचल तो मैं इन सात धनों को मानता हूँ—श्रद्धा, शील, लज्जा, लोक-भय, श्रुत, त्याग और प्रज्ञा। इस सप्तविध धन को कौन लूट सकता है, और कौन छीन सकता है ?

*

१०४. लोभ, द्वेष और मोह ये पाप के मूल हैं; अलोभ, अद्वेष और अमोह ये पुण्य के मूल हैं।

१०५. ये जो चंद्र और सूर्य आकाश-मंडल में प्रकाशित हो रहे हैं, और ब्राह्मण जिन्हें नित्य स्तोत्रों के गान से रिझाते और पूजते हैं, उन चंद्र-सूर्य की ओर जाने का मार्ग क्या ये ब्राह्मण बतला सकेंगे ?

जिन चंद्र-सूर्य को ये ब्राह्मण प्रत्यक्ष देख सकते हैं, उनतक पहुँचने का मार्ग जब वे न जान ही सकते हैं, न बतला ही सकते हैं, तो उस ब्रह्मसायुज्यता के मार्ग का ये क्या उपदेश करेंगे, जिसे न उन्होंने ही कभी देखा है और न उनके आचार्योंने ही ? यदि ब्रह्मसायुज्यता के मार्ग का वे उपदेश करते हैं तो यह एक विचित्र ही बात है !

*

१०६. जो स्मृतिमान् मनुष्य अपने भोजन की मात्रा जानता है उसे अजीर्ण की तकलीफ नहीं होती। वह आयु का पालन करते-करते बहुत बरसों के बाद वृद्ध होता है।

*

१०७. कोई-कोई स्त्री तो पुरुष से भी श्रेष्ठ निकलती है। यदि वह बुद्धिमती, सुशीला और बड़ों का आदर करनेवाली तथा पतिव्रता हो तो उसे कौन दोष दे सकता है ? उसके गर्भ से जो पुत्र जन्म लेता है वह शूरवीर होता है। ऐसी सद्भाग्यवती स्त्रीके गर्भ से जन्म लेनेवाला पुत्र साम्राज्य चलाने की पात्रता रखता है।

*

१०८. कृपण के धन की कैसी बुरी गति होती है ! कृपण मनुष्य से उसके जीवन-काल में किसी को भी सुख नहीं पहुँचता। उसका इकट्ठा किया हुआ सारा धन अन्त में राजा के खजाने में

जाता है, या चोर लूट लेते हैं, अथवा उसके शत्रु उसे तिड़ी-बिड़ी कर देते हैं।

कृपण के धन की वैसी ही गति होती है, जैसी जंगल के उस तालाब की, जिसका पानी किसी के काम नहीं आता, और वह वहीं-का-वहीं सूख जाता है।

*

१०९. जरा और मरण तो भारी-भारी पर्वतों से भी भयंकर हैं! हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल सैनिकों की चतुरंगिणी सेना से कहीं जरा और मृत्यु की पराजय हो सकती है? जरा और मृत्यु के घर यह भेदभाव नहीं कि यह ब्राह्मण है और यह चाण्डाल।

*

११०. सदाचार-रत मनुष्य इस लोक में प्रशंसा पाता है, और परलोक में सद्गति।

*

१११. अपने हाथ से कोई अपराध हो गया हो तो उसके लिए पश्चात्ताप करना, और भविष्य में फिर कभी वह अपराध न करना, यह आर्य गृहस्थ का कर्तव्य है।

*

११२. धर्म को जानकर जो मनुष्य वृद्धजनों का आदर-सत्कार करते हैं, उनके लिए इस लोक में प्रशंसा है और परलोक में सुगति।

*

११३. भिक्षुओ! मैं तुम्हारी सेवा न करूँ तो कौन करेगा? तुम्हारी यहां माता नहीं, पिता नहीं, जो तुम्हारी सेवा-शुश्रूषा

करते। तुम एक दूसरे की सेवा न करोगे, तो फिर कौन करेगा? जो रोगी की सेवा करता है वह मेरी ही सेवा करता है।

*

११४. लोभ के फंदे में फँसा हुआ मनुष्य हिंसा भी करता है, चोरी भी करता है, परस्त्री-गमन भी करता है, झूठ भी बोलता है, और दूसरों को भी वैसा ही करने के लिए प्रेरित करता है।

*

११५. तुम खुद अपनी आंख से देखो, कि यह धर्म अकुशल है, अत: त्याज्य है, इसे हम ग्रहण करेंगे तो हमारा अहित ही होगा। अकुशल धर्म का त्याग तुम अपनी प्रज्ञा से करो—श्रुत से या मत-परम्परा से नहीं; प्रामाण्य शास्त्रों की अनुकूलता से या तर्क के कारण नहीं; न्याय के हेतु से या अपने चिरचिंतित मत के अनुकूल होने से नहीं; और वक्ता के आकार अथवा उसके भव्यरूप से प्रभावित होकर भी नहीं।

*

११६. मुक्त पुरुष सर्वदा सुख की नींद सोता है। रागादि से रहित, नितान्त अनासक्त और निर्भय पुरुष आन्तरिक शान्ति में विहार करता हुआ सदैव सुख की नींद सोता है।

*

११७. कटु वाक्य सुनकर हमें उन्हें मन में न लाना चाहिए।

*

११८. हानि-लाभ को न देखकर सौ वर्ष जीने की अपेक्षा हानि-लाभ को देखकर एक दिन का जीना अच्छा है।

*

११९. जो परवश है वह सब दुःख है। सुख तो एक स्ववशता में ही है।

*

१२०. मूर्ख तबतक नहीं समझता, जबतक कि वह पाप में पचता नहीं। पाप में जब वह पचने लगता है, तभी उसकी समझ में आता है कि 'अरे! यह तो पाप-कर्म है।'

*

१२१. हत्या का फल हत्या है, निंदा का फल निंदा है और क्रोध का फल क्रोध। जो जैसा करता है, वैसा ही फल उसे मिलता है।

*

१२२. रंग या रूप से मनुष्य सुज्ञेय नहीं होता। किसीको देखते ही उसपर विश्वास न कर लेना चाहिए। रूप और रंग से कितने ही मनुष्य संयमी-से मालूम होते हैं।

१२३. ऐसे बने हुए मनुष्य मिट्टी के नकली कुण्ड की तरह या सोने से मढे तांबे के टुकड़े की तरह होते हैं। ऊपर से सुन्दर, किन्तु भीतर से वे महान् अशुद्ध होते हैं।

*

१२४. मुझे इस बात का अभ्यास करना चाहिए, कि मेरे चित्त में विकार नहीं आने पायगा, मुहँ से मैं दुर्वचन नहीं निकालूंगा, और द्वेषरहित हो मैत्रीभाव से इस संसार में विचरण करूँगा।

*

१२५. तुम्हारे लिए दो ही कर्तव्य हैं—एक तो धर्म-प्रवचन का मनन और दूसरा आर्य तूष्णीभाव, अर्थात् उत्तम मौन।

*

१२६. उनके लिए अमृत का द्वार बन्द है, जो कानों के होते हुए भी श्रद्धा को छोड़ देते हैं।

*

१२७. जिन जीवों के तमाम आस्रव अर्थात् मल नष्ट हो जाते हैं, उन्हींको 'जिन' कहते हैं।

*

१२८. परमलाभ आरोग्य है, और परमसुख निर्वाण।

*

१२९. सत्य-प्राप्ति का उपकारी धर्म प्रयत्न है। मनुष्य प्रयत्न न करे, तो फिर सत्य की प्राप्ति कहां से हो?

और, प्रयत्न का उपकारी धर्म उद्योग है। बिना उद्योग के मनुष्य प्रयत्न नहीं कर सकता।

*

१३०. उच्चकुल में जन्म लेने से लोभ थोड़ा ही नष्ट हो जाता है। उच्चकुल में जन्म लेने से न द्वेष ही नष्ट होता है, न मोह ही।

१३१. उच्चकुल में भले ही जन्म न लिया हो, किन्तु यदि मनुष्य धर्ममार्ग पर आरूढ़ होकर धर्म का ठीक-ठीक आचरण करता है, तो वह प्रशंसनीय है, पूज्य है।

*

१३२. जो मनुष्य अपनी उच्चकुलीनता का अभिमान करता है, और दूसरों को नीची निगाह से देखता है, वह प्रव्रज्या ले लेने पर भी 'असत्पुरुष' ही कहलायगा।

१३३. यह वृक्षों की छाया है, यह शून्य गृह है। इसके नीचे बैठकर प्रमाद मत करो, ध्यान करो।

*

१३४. चाहे गृहस्थ हो चाहे संन्यासी, यदि वह मिथ्या प्रतिज्ञावाला है, तो वह मिथ्या प्रतिपत्ति (असत्य विश्वास) के कारण कुशलधर्म का आराधक नहीं हो सकता।

*

१३५. उलीचो, उलीचो, इस नाव को उलीचो; उलीचने से तुम्हारी यह नाव हलकी हो जायगी, और तभी जल्दी-जल्दी चलेगी। राग और द्वेष का छेदन करके ही तुम निर्वाणपद पा सकोगे।

*

१३६. काट डालो वासना के इस बीहड़ वन को। एक भी वृक्ष न रहने पाये। यह महाभयंकर वन है। जब वन और उसमें उगनेवाली झाड़ियों को काट डालोगे, तभी तुम निर्वाणपद पाओगे।

*

१३७. आत्मस्नेह को इस तरह काटकर फेंकदे, जिस तरह लोग शरद ऋतु के कुमुद को हाथ से तोड़ लेते हैं। शांति के मार्ग का आश्रय ले—यह बुद्ध-द्वारा उपदिष्ट मार्ग है।

*

१३८. बुद्ध के निर्दिष्ट मार्ग पर वही चल सकता है, जो मन, वचन और काया को पापों से बचाता है।

*

१३९. यह ब्रह्मचर्य न तो आदर-सत्कार प्राप्त करने के लिए है, न शील-संपत्ति प्राप्त करने के लिए—और न समाधि-संपत्ति

या प्रज्ञा प्राप्त करने के लिए है। यह ब्रह्मचर्य तो आत्यंतिक चित्त-विमुक्ति अर्थात् निर्वाणपद प्राप्त करने के लिए है। आत्यंतिक चित्त-विमुक्ति ही ब्रह्मचर्य का सार है, और यही ब्रह्मचर्यव्रत का पर्यवसान भी है।

*

१४०. जिस श्रद्धालु गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग ये चार गुण हैं, वह इस लोक से परलोक में जाकर शोक नहीं करता।

*

१४१. वही बात बोलनी चाहिए, जो अपनी आत्मा के विरुद्ध न हो, और जिससे किसीको दुःख न पहुँचे। यही सुभाषित वाक्य है।

१४२. वही प्रिय बात बोलनी चाहिए, जो आनंददायक हो; और ऐसा न हो कि दूसरे के लिए प्रिय बात बोलने से पाप लगे।

१४३. मेरी वाणी सदा सत्य हो, यही सनातनधर्म है।

१४४. संतोंने कहा है कि सुभाषित वाक्य ही उत्तम है; धर्म की बात कहना, अधर्म की न कहना, यह दूसरा सुभाषण है; प्रिय बोलना, अप्रिय न बोलना यह तीसरा सुभाषण है; सत्य बोलना, असत्य न बोलना, यह चौथा सुभाषण है।

*

१४५. भिक्षुओ! अब तुम लोग जाओ, घूमो; जनता के हित के लिए, जनता के सुख के लिए, देवताओं और मनुष्यों के कल्याण के लिए घूमो। कोई दो भिक्षु एक तरफ न जाना। तुम लोग उस धर्म का उपदेश करो जो आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है और अंत में कल्याणकारी है।

१. ध. प. (पुप्फवग्गो). २—४ ध. प. (बालवग्गो) ५—६ ध. प. (पंडितवग्गो) ७—९ ध. प. (सहस्सवग्गो) १०—११ ध. प. (पापवग्गो) १२—१३. ध. प. (अत्तवग्गो). १४—१६. ध. प. (लोकवग्गो) १७ ध. प. (बुद्धवग्गो) १८—२३. ध. प. (सुखवग्गो) २४—२८. ध. प. (कोधवग्गो) २९—३५. ध. प. (मलवग्गो) ३६—४७. ध. प. (धम्मट्ठवग्गो) ४८—५३. ध. प. (पकिण्णक वग्गो) ५४—५८. ध. प. (निरयवग्गो). ५९—६२. ध. प. (पुप्फवग्गो) ६३—६५. ध. प. (यमकवग्गो) ६६ --६८. ध. प. (बालवग्गो) ६९. ध. प. (अर्हन्तवग्गो) ७०. ध. प. (सहस्सवग्गो) ७१. ध. प. (पापवग्गो) ७२. ध. प. (नागवग्गो) ७३—८०. ध. प. (भिक्खुवग्गो) ८१. सु. नि. (धम्मिक सुत्त) ८२. सु. नि. ८३. निदानवग्गो (भिक्खुसंयुत्त) ८४. सु. नि. (खग्गविषाण सुत्त) ८५. सु. नि. (खग्गविषाण सुत्त) ८६—८७. सु. नि. (नावा सुत्त). ८८—९१. सु. नि. (कोकालिक सुत्त) ९२—९३. सु. नि (नालक सुत्त) ९४—९५. सु. नि. (द्वयतानुपस्सना सुत्त) ९६. सु. नि. (तुवट्टक सुत्त) ९७—९९. सु. नि. (द्वयतानुपस्सना सुत्त) १००. सु. नि. (काम सुत्त) १०१. सु. नि. (गुहट्ठक सुत्त) १०२. सु. नि. (दुट्ठट्ठक सुत्त) १०१. अं नि. (धन सुत्त) १०४ अं. नि. (कालाम सुत्त) १०५. दी. नि. (तेविज्ज सुत्त) १०६—११०. बु. लो. सा. सं. (कोसल संयुत्त) १११. दी. नि. (सामञ्ञफल सुत्त) ११२. बु. च. (अनाथपिंडक-दीक्षा) ११३. बु. च. (पृष्ठ ३३८) ११४—११५. अं. नि. (३. ७. ५) ११६ अं. नि (३. ४. ५.) ११८. बु. च. (सुंदरी सुत्त) ११८. थेरी अवदान, द्वितीयभाणवार. ११९. बु. च. (विसाख सुत्त)

१२०—१२१. बु. च. (संगाय सुत्त) १२२—१२३. सं. नि. (३: २: १) १२४. म. नि. (ककचूपमसुत्तन्त) १२५—१२७. म. नि. (पासरासि सुत्तंत) १२८. म. नि (मार्गदिय सुत्तंत) १२९. म. नि. (चंकि सुत्त) १३०—१३२. म. नि. (सप्पुरिस धम्म सुत्तंत) १३३ स. नि. (आनंज सप्पाय सुत्तन्त) १३४. स. नि. (सुभ सुत्तन्त) १३५. ध. प. (भिक्खुवग्गो) १३६—१३८. ध. प. (मग्गवग्गो) १३९. म. नि. (महासारोपम सुत्त) १४०. सु. नि. (आलवक सुत्त) १४१—१४४. सु. नि (सुभासित सुत्त) १४५. सं. नि. (४—१—४)

कोश

अकुशल	=	पाप; दुष्कृत्य
अकंप्य	=	स्थिर
अनागामी	=	कामवासना और क्रोध इन दो संयोजनों का संपूर्णतया उच्छेद करनेवाला श्रमण; मज्झिमनिकाय के संगीति-परियाय सुत्त में अनागामी के पांच प्रकारों का उल्लेख मिलता है—अंतरापरिनिर्वायी, उपहत्यपरिनिर्वायी, असंस्कारपरिनिर्वायी, ससंस्कारपरिनिर्वायी और ऊर्ध्वस्रोत-अकनिष्ठगामी।
अनादान	=	अपरिग्रह
अनुत्तर	=	जिससे उत्तम कोई दूसरा न हो।
अनुशय	=	मल
अभिज्ञा	=	दिव्य ज्ञान
असपत्न	=	जिसका कोई प्रतिस्पर्धी या शत्रु न हो।
असमाहित	=	समाधिरहित; अशांत
अष्टांगिकमार्ग	=	आठ अंगोंवाला मार्ग; आठ अंग ये हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इसे 'मध्यमा प्रतिपदा' भी कहते हैं।

आयतन	=	आश्रय; बौद्ध दर्शन में आयतन दो प्रकार के है—आध्यात्मिक या आंतरिक और बाह्य। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन ये आध्यात्मिक आयतन हैं। और, रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और धर्म ये बाह्य आयतन हैं।
आर्यसत्य	=	उत्तमसत्य, जो चार प्रकार का है—दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोध का मार्ग।
आस्रव	=	मल; प्रवाह
आर्हत	=	अर्हत का धर्म
उपेक्षा	=	उदासीनता; तीसरा बोध्यंग
उपोसथ	=	उपवास का दिन
ओघ	=	भवसागर; संसार-प्रवाह
अंत	=	अतिसीमा
ऋद्धिपाद	=	असाधारण क्षमता या दिव्य शक्ति
कषाय	=	मल
कुशल	=	पुण्य; सत्कर्म
कोश	=	पुनर्जन्म देनेवाला कर्म
छंद	=	राग
दांत	=	जिसने इंद्रियों का संपूर्णतया दमन कर लिया है।
दौर्मनस्य	=	दुर्मनता; मानसिक दुःख
परिदेव	=	रोना-विलपना

पंचोपादान	=	पांच अभिनिवेश, जो ये हैं— रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ।
प्रतिपत्ति	=	प्राप्ति; मार्ग
प्रधान	=	प्रयत्न; निर्वाणसंबंधी प्रयत्न ।
प्रविचय	=	संग्रह; अन्वेषण
प्रव्रज्या	=	संन्यास
प्रश्रब्धि	=	शांति; एक बोध्यंग
बोध्यंग	=	निर्वाण-ज्ञान के अंग, जो सात हैं—स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा ।
मार	=	विषय
रति	=	सुखोपभोग के पदार्थों में आसक्ति
वितर्क	=	मिथ्या संकल्प
विज्ञान	=	चित्त की धारा
वीर्य	=	उद्योग, मनोबल
वृषल	=	चांडाल
वेदना	=	इंद्रिय और विषय के एकसाथ मिलने के बाद चित्त में जो दुःख-सुख आदि विकार उत्पन्न होता है उसे वेदना कहते हैं ।
व्यापाद	=	क्रोध
शासन	=	शिक्षा; धर्म
शास्ता	=	गुरु
शीलव्रत	=	श्रमण संन्यासी के आचार और व्रत
श्रावक	=	गृहस्थ

श्रोतावधान	=	श्रद्धा और प्रज्ञापूर्वक सुनना
समाहित	=	एकाग्र
संबोधि	=	परम ज्ञान; मोक्ष-ज्ञान
संयोजन	=	मन का बंधन
संज्ञा	=	इंद्रिय और विषय के एकसाथ मिलने पर, अनुकूल-प्रतिकूल वेदना के बाद 'यह अमुक विषय है' इस प्रकार का जो ज्ञान होता है उसे संज्ञा कहते हैं।
स्कन्ध	=	समुदाय

सस्ता-साहित्य-मण्डल के

प्रकाशन